काव्य कलानिधि



बंगीय हिन्दी परिषद
१५, बंकिम चैटर्जी स्ट्रीट,
कलकत्ता—१२

प्रकाशक—
बंगीय हिन्दी परिषद
१५, बंकिम चैटर्जी स्ट्रीट,
कलकत्ता—१२

मूल्य रु० १-१२-०

ज्योति प्रिन्टिग एण्ड पब्लिशिंग प्रेस,
४, रामजीदास जेटिया लेन,
कलकत्ता—७

प्रथम संस्करण का वक्तव्य—

देश की सर्वतोमुखी उन्नति का मूलाधार है शिक्षा और वह किसी प्रकार की क्यों न हो, भाषा का माध्यम अनिवार्य है। हिन्दी का साहित्य अपार है, किन्तु शिक्षाक्रम की अपनी अलग कुछ आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। क्योंकि, उसमें समय और छात्र-छात्राओं की विविध योग्यताओं का पारस्परिक समन्वय अपेक्षित होता है। थोड़े से समय में सीमित धरातल पर हमारे अपार साहित्य का ज्ञान तो क्या साधारण परिचय भी बहुत संभव नहीं। लेकिन शिक्षा की नींव तो यहीं जमती है।

शिक्षा क्रम की उपादेयता केवल ज्ञानवर्धन तक ही सीमित नहीं होती। साहित्यिक सुरुचि एवं पिपासा उत्पन्न करना उसकी विशेषता है। सौभाग्य की बात है कि आज हमारे साहित्य में इस ओर कितने ही अच्छे साहित्यिक संकलन इत्यादि प्रस्तुत हैं। लेकिन, उनमें से अधिकांश आधुनिक काव्य के विविध उद्धरणों तक ही सीमित रह जाते हैं। हमारा मध्यकालीन, ब्रज और अवधी भाषाओं में व्यक्त काव्य साहित्य आजकल के संकलनों में विशेष स्थान नहीं पाता। किन्तु उसका जो अपना महत्व है या हमारे जीवन पर उसकी जितनी छाप है वह नाप तौल की चीज़ नहीं। प्रायः देखा जाता है हमारे संकलनों में मध्यकालीन झाँकी यदि थोड़ी बहुत कहीं देख भी पड़ी तो सूर और तुलसी तक ही रह जाती है। यह भी ठीक है कि सूर और तुलसी केवल हमारे ही साहित्य के नहीं

वरन् विश्व साहित्य के सिरमौर हैं। लेकिन, उनकी लेखनी का थोड़ा सा प्रसाद भी संकलनों द्वारा सम्भव नहीं। वह विशेष अध्ययन की चीज़ है। उनके अतिरिक्त भी तो हमारे पास सामग्री कम नहीं। उनसे परिचित होना और हमारी राष्ट्रभारती के सहज सौन्दर्य के दर्शन करना, उतना ही हमारे विद्यार्थियों का पावन कर्त्तव्य है जितना कि राष्ट्रसेवा।

इसी प्रेरणा से इस संकलन में ऐसी काव्य सामग्री प्रस्तुत की गई है कि जिसके द्वारा हमारे साहित्य के विद्यार्थियों का केवल ज्ञान ही न बढ़े वरन् उनमें काव्य सुरुचि भी उत्पन्न हो और अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के प्रति उनमें सात्विक गर्व का उदय हो।

—बंगीय हिन्दी परिषद

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य—

हिन्दी के प्रेमियों की प्रेरणा एवं उत्साह का बल पाकर परिषद् प्रस्तुत नवीन संस्करण भेंट कर रही है। इस संस्करण में हिन्दी के विभिन्न प्राचीन तथा आधुनिक कवियों की काव्य साधना एवं कला का संक्षिप्त संग्रह जोड़ दिया गया है। साथ ही उनका परिचय, भाषा एवं शैली का उल्लेख भी जीवन परिचय के साथ किया गया है।

विद्यार्थियोंको यदि हिन्दी की काव्यकलानिधि का कुछ भी परिचय इस संकलन से प्राप्त हो सका तो परिषद् अपने श्रम को सार्थक समझेगी

—बंगीय हिन्दी परिषद

भूमिका

हिन्दी काव्य का इतिहास हजार वर्ष पुराना है। इस दीर्घ जीवन कालमें हिन्दी काव्य में अनेक परिवर्तन हुए—क्या भाषा की दृष्टि से, क्या भावों की दृष्टि से और क्या अभिव्यञ्जना की दृष्टि से। परिवर्तन का होना तो स्वाभाविक है, तभी तो गति का बोध होता है। गति जीवन का चिन्ह है। हिन्दी काव्य जीवन शक्ति से संयुत है। अतः इस गतिशील चिर-युवक-काव्य के दीर्घ जीवन को हम अध्ययन के हेतु चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। इसका प्रारम्भिक जीवन वीर गाथाओं से आरम्भ होता है। इस काल के कवि प्रायः राजाश्रित होते थे। वे अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ करते थे। उनका कार्यक्षेत्र राज दरबार तक ही सीमित नहीं था, वरन् रण क्षेत्र में जाकर वीरों को उत्साह एवं ओज भरी कविताओं से उत्साहित करना भी इनका कर्त्तव्य था। यह काल ऐसा था जब कि राज सभाओं में खड़े होकर राजाओं की दानशीलता का वर्णन करके लाखों रुपये पाने वाले कवियों की कोई गिनती न थी और न गिनती थी पाण्डित्य के चमत्कार पर पुरस्कृत होने वालों की। इस समय तो जो भाट या चारण राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु कन्या हरण आदि विषयों पर रचनाएं करता था या रण क्षेत्रों में जाकर वीरों को उत्साहित करता

इस परिवर्तित परिस्थिति ने भावों और विचारों में भी परिवर्तन किया। हिन्दुओं के रक्त में अतीत काल से प्रवाहित होने वाली ब्रह्म भावना, ईश्वर के प्रति उनकी अटूट भक्ति, श्रद्धा और प्रेम तथा मानवता की पूजा की पुरानी परिपाटी ने फिर एक बार ज़ोर पकड़ा। इस युग के प्रतिनिधि कवियों ने जनता की उक्त भावना को दृढ़ होने में सहायता पहुंचायी। इस काल विशेष के भक्त कवियों ने केवल उपर्युक्त भावनाओं की रक्षा ही नहीं की वरन् विजित और विजेताओं के सामने ईश्वर के उस रूप को रखा जहां ऊंच नीच, भेद भाव, तथा विजित और विजेता का कोई स्थान नहीं रह जाता और जहां मनुष्य सामान्य रूप में रह जाता है।

जगत प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद, स्वामी रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद तथा स्वामी माध्वाचार्य के द्वैतवाद आदि सिद्धान्त सारे भारत में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक इस वेग से प्रचारित हुए थे कि भारतीय जनताके हृदयमें ये सब वाद समावेश से हो गये थे। कभी जनता सगुण उपासना के प्रति आकृष्ट होती थी तो कभी निर्गुण उपासना के प्रति। मुसलमानों के भारत में पदार्पण करने के बाद जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, हिन्दी काव्य का द्वितीय उत्थान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इस उत्थान के पूर्वार्द्ध में कवियों का झुकाव निर्गुण ब्रह्म की ओर था। इनकी रचनाएं उच्च साहित्यिक कोटि में नहीं

आतीं। जिस भाषा और शैली का प्रयोग इन्होंने किया है वे कहीं कहीं अव्यवस्थित तथा ऊटपटाँग हैं। ज्ञान की शुष्क बातें सीधी-सादी भाषा में कहकर इन लोगों में अशिक्षित और जनसाधारण निम्न श्रेणी की जनता में आत्म गौरव उत्पन्न कर हिन्दू धर्म की रक्षा की, जिसकी विशेष आवश्यकता उस समय थी। इनकी भाषा, इनकी शैली तथा इनके काव्य में निहित विषय को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि ये कवि कवि नहीं थे वरन् थे उपासक। काव्य के इस उत्थान के पूर्वार्द्ध में उपर्युक्त कोटि के ज्ञानियों के अतिरिक्त एक और शाखा प्रेममार्गी सूफी कवियों की थी जिनकी प्रेम गाथाएं साहित्यिक कोटि में आती हैं। इस शाखा के कवियों ने कल्पित प्रेमाख्यानों के द्वारा प्रेम मार्ग का महत्व दिखाया है। प्रेम के द्वारा प्रियतम ईश्वर की प्राप्ति ही इनकी गाथाओं का सार है। "इन प्रेम प्रबन्धों में खण्डन मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिन्दू और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है।" बीच बीच में इनके प्रबन्धों में रहस्यवाद का भी संकेत मिलता है जो निसन्देह ज्ञान मार्गी उपासकों के रहस्यवाद से अधिक स्पष्ट और मर्मस्पर्शी है। इन्होंने चौपाई और दोहा छन्दों का प्रयोग अपनी रचना में किया है। इनकी भाषा पूरबी हिन्दी (अवधी) है।

इस काल के उत्तरार्द्ध में सगुण उपासनाकी प्रधानता रही।

जिस सगुण उपासना का आभास स्वामी माध्वाचार्य ने (सं० १२५४—१३३३) द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाकर गुजरात में दिया था, रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द ने जिस साकार राम की उपासना पर ज़ोर दिया था तथा बल्लभाचार्य जी ने जिस प्रेम मूर्ति साकार कृष्ण को लेकर जनताको रससिक्त किया था, वे सब हिन्दी काव्य के इस उत्थान के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के भक्त कवियों द्वारा भाषा, भाव, छन्द तथा अलङ्कार का परिधान पहनकर मूर्तिमान हो उठे। यदि सच पूछा जाय तो हिन्दी काव्य का यही काल विशेष ऐसा है जो आज तक हिन्दी साहित्य को उस उच्च स्थान पर पदस्थ किये हुए है जिसका हिन्दी जगत को गर्व है। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार तथा चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति इस काल की विशेषता है। छन्दों के क्षेत्र में भी इस काल में आदि काल से चलती हुई छप्पय पद्धति, गीत पद्धति एवं कवित्त, सवैया चौपाई और दोहा पद्धति का विकास हुआ। भावना के क्षेत्र में जहाँ कविता में मानव जीवन के विभिन्न दशाओं का सन्निवेश किया गया वहीं विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति तथा अनुभूति के आधार पर मार्मिक ढंग से सगुणोपासना का भी निरूपण किया गया।

लेकिन भक्ति काल की यह काव्य धारा सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण में, जिस दिशा में प्रवाहित हो रही थी, उससे अवरुद्ध होकर नवीन दिशा में परिवर्तित हो गयी। मुसलमान

बादशाहों के विलासपूर्ण जीवन ने उनके आश्रित कवियों के जीवन और उनकी भावनाओं को विशेष रूप से प्रभावित किया। तत्कालीन कवि पूर्ववर्ती भक्त कवियों की भाँति ईश्वरोन्मुखी पारलौकिक काव्य की रचना न कर लौकिक रुचि अथवा आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल ऐहिक सुख और भोग-विलास के गीत गाने लगे। काव्य की यह धारा देश में प्रायः दो सौ वर्षों (सं० १७००—१६००) तक प्रवाहित होती रही। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह काव्य धारा रीति कालीन धारा के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में कविता कविता के लिये की गयी। काव्य के विविध लक्षणों को हेतु मानकर उनके कतिपय छन्दबद्ध उदाहरणों की रचना ही कवि की सफलताका माप दण्ड समझा जाने लगा। कविता का प्रधान वर्ण्य विषय प्रेम रहा। प्रेम-भावना की मधुर और मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुई। धार्मिकता का बाना धारण कराने के लिये 'राधा' और 'कृष्ण' का नाम भी कवियों की रचनाओंके साथ जुटा हुआ था। लेकिन इस प्रकारकी रचनाओं से लौकिक वासनायुक्त प्रेम की बू आती है। क्योंकि इन रचनाओं में उस नैसर्गिक प्रेम का, जहाँ पहुँच कर प्रेमी अन्धा हो जाता है, संसार को न देखकर संसार के सार को देखता है, जीवन का मोह, प्राण की वासना, हृदय की अभिलाषा, मान का ध्यान और अपमान का गुमान सब कुछ भूल जाता जाता है, अभाव है। इस काल में 'प्रेम' प्रेम न रहकर 'वासना'

का पर्याय बन गया और प्रेम की कविता नायक और नायिका विषयक रचना मात्र रह गई। नाशवान वाह्य सौन्दर्य के चकाचौंध से कवि इतना मोहित गया कि उसे चिर सौन्दर्य को निहारने का सुयोग ही न मिला। प्राकृतिक सौन्दर्य तथा षट्ऋतुओं का वर्णन भी संयोग और वियोग श्रृंगार के सुख और विरह वेदना की अभिव्यक्ति के लिये ही अपेक्षित हुए।

प्राकृतिक सौन्दर्य के—स्वच्छन्द सौन्दर्य के—वर्णन से विमुख होकर इस काल का कवि नित्य प्रति अपने चतुर्दिक घटित होने वाली घटनाओं की ओर भी आकृष्ट न हो सका। फल स्वरूप इस काल की कविता में विविधता तथा अनेकरूपता का दर्शन दुर्लभ हो गया। लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ की रचना की परम्परा में उलझे हुए कवि किसी विशिष्ट और पृथक शैली का विकास न कर सके। उसी भक्ति काल की जमी जमाई पद्धति पर ही कवि चलते रहे। न तो कवित्त, सवैया, चौपाई, दोहा और बरवै छन्दोंके अतिरिक्त नये छन्दोंके विधान की उमङ्ग ही उनमें उठ सकी और न ब्रज भाषा के अतिरिक्त प्रचलित बोलियोंमें अपने राग को लाने के लिये उनकी वाणी ही जागृत हुई। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस काल में मौलिकता, रचना-कौशल, अन्तर्वृत्ति की गूढ़ मार्मिक अभि-व्यंजना और वास्तविकता का सर्वदा अभाव है। यत्र तत्र इसका भी दर्शन होता है और शायद इसलिये कहा भी गया है कि हिन्दी काव्य में जो शैली, जो रस तथा जो छन्द एक

बार चल पड़ते हैं उनका सर्वथा लोप नहीं होता।

समय की गतिविधि के विधान से विविध रूपों में परिवर्तन होते रहते हैं। स्थिरता का अभाव ही 'जगत' की सार्थकता है। काल का अनुगामी कवि और उसका काव्य भी कभी स्थिर नहीं रहता। उसमें भी समय समय पर समय की गतिविधि के कारण परिवर्तन होता रहता है। सन् सत्तावन के विद्रोह के पश्चात् देश को नवजागरण का आभास मिला। समाज सुधार की लहर फैलने लगी। दासता की बेड़ियों से छुटकारा पाने के लिये जनता के हृदय में हुंकार उठी। ऐसी दशामें हिन्दी काव्य इन परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता न बच सका। काव्य के क्षेत्र में रीति कालीन प्राचीन काव्यधारा का प्रवाह रुक गया और काव्य कल्लोलिनी नयी दिशा की ओर स्वछन्द गति से प्रवाहित होने लगी।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भमें ही हिन्दी काव्य का नवप्रभात हुआ। और इस नवप्रभात के प्रथम वैतालिक हुए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। इनका प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में पचीस छब्बीस वर्षों तक अत्यन्त व्यापक रूप से पड़ा। अतः आधुनिक काव्य की गति विधि तथा सम्यक् बोध के लिये आवश्यक यह होगा कि आधुनिक युग में काव्य की विशेष प्रवृत्तियों को अपने असाधारण व्यक्तित्व, प्रज्ञा और काव्यशक्ति से प्रभावित करने वाले युगान्तरकारी महामानवों के नाम से ही इस युग का विभाजन किया जाय।

आधुनिक युग का प्रथम उत्थान भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में रीतिकाल की एकांतिक शृंगारी कविता तत्कालीन युग की नव जागृत भावनाओंसे मेल न खाने के कारण प्रभावहीन होने लगी। इस युग के कवियों की दृष्टि यथार्थ-वादिनी हो गयी थी। जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी समस्यायें कविता का विषय बनने लगीं। कवि देशव्यापी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओंसे पूर्णतया परिचित थे। इन्हीं समस्याओं को कवियों ने वाणी प्रदान की। जनता से वे अलग न थे। जीवन की जो समस्याएं जनता की थीं वही उनकी भी थीं। अतः रीतिकालीन कवियों की भाँति जनता से विलग होकर उनको कुछ कहना सम्भव न था। इन्होंने स्वयं जीवन सागर का अवगाहन कर अपने कटु और मधुर अनुभूतियों का वर्णन किया। समय की बदलती हुई प्रगति के कारण धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो नई-नई घटनाएं रोज घटित होती थीं उनसे उस युग का कवि अनभिज्ञ नहीं था। अपने समय की पूर्ण अभिव्यक्ति या ऐतिहासिकता का सच्चा स्वरूप यदि देखना हो तो इस युग के कवियों का अध्ययन आवश्यक है।

यद्यपि यह सत्य है कि इस युग की कविता में रीतिकालीन शृंगारिक कविताकी मधुरता तथा प्रेम गीतों की कलात्मकता का अभाव है, क्योंकि समय की आवश्यकतानुसार इसकी

आधुनिकता कवि का उद्धार न बन सकी तथापि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस समय का सच्चा चित्र (प्रत्येक दृष्टिकोण से) इसमें सुरक्षित होने के कारण इसका अपना एक अलग महत्व है। रही बात कलात्मकता और मधुरता के अभाव की। इसके कई कारण थे। भारतेन्दुयुग में गद्य का प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ और जिसके प्रभाव से कविता का बचना सम्भव न था। समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाली कविताओं में नवीन भावनाओं का ही अधिक समावेश रहता था। इन कविताओं का पाठ प्रायः कविसम्मेलनों में न होने के करण इन्हें काव्य पूर्ण बनाने की विशेष चिन्ता कवियों को नहीं थी। भाषा के अस्तित्व के संकट में पड़ जाने के कारण भी उस काल के कवियों के समक्ष एक बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई थी। अतः मधुरता और कलात्मकता की ओर विशेष ध्यान देने का अवकाश कवियों को न था। भाषा-आन्दोलन-सम्बन्धी अपने विचारोंको पद्यबद्ध रूप देने में मधु-रताका अभाव स्वाभाविक था। फिर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग का कवि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं में इतना व्यस्त था कि तत्सम्बन्धी नवीन विचारों की काव्यपूर्ण सम्यक् अभिव्यक्ति न कर सका।

लेकिन इससे इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिये कि इस युग के द्वारा सरस और कलात्मक कविताओं की रचना ही

नहीं हुई। रीतिकालीन दो सौ वर्षों के मधुर भावयुक्त काव्य के प्रभाव का लोप इतना शीघ्र नहीं हो सकता था कि कवि सरस रचना करे ही नहीं। शृंगारिक कविता का निर्माण भी इस युग में हो रहा था और अनेक कवियों की प्रसिद्धि इस क्षेत्र में थी।

आधुनिक काव्य धारा के प्रथम उत्थान अर्थात् प्राचीन आवरण नवीन विचारों की कविता का युग भारतेन्दु युग के के साथ समाप्त हो गया। इसके अन्तिम वर्षों में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का द्वन्द्व भी प्रारम्भ हो गया था। साहित्य सेवियों का एक दल इस बात का समर्थक था कि गद्य की भाषा खड़ी बोली में ही काव्य की रचना भी होनी चाहिये। दूसरा दल पुरानी परिपाटी का समर्थन करते हुए इस विचार पर अटल था कि काव्य (कविता) की भाषा ब्रजभाषा ही होनी चाहिये। अन्त में विजय खड़ी बोली वालों की हुई और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस दिशा में सबसे अधिक कार्य किया। अतः आधुनिक काव्य धारा के द्वितीय उत्थान को द्विवेदी युग कहा जा सकता है।

इस युग के कवियों की मनोवृत्ति अधिक व्यापक और उदार थी। ग़रीब, किसान, विधवा, अछूत आदि के लिए इन कवियों के हृदय में विशेष स्थान था। वे सेवा और प्रेम के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट थे। तटस्थता की नीति का कवियों ने परित्याग किया और समस्त विश्व की भावना, वे अपने में

भरने लगे। इस युग की प्रारम्भिक कविता अवश्य वर्णनात्मक और आख्यात्मक थी, लेकिन क्रमशः कवियों ने 'सन्तोष', 'आशा', 'साहस', आदि अनेक विषयों पर कविता कर काव्य विषयों में अनेकरूपता लाने का प्रयत्न किया। देशभक्ति और सामाजिक कविता का क्षेत्र भी इस युग में अधिक व्यापक बना। देशभक्ति की भावना में परिवर्तन हो गया। कवि राजनीतिक और आर्थिक दशा की ओर संकेत कर देशभक्ति की भावना जागृत करने लगे। लेकिन इन कवियों में भावुकता का अभाव और लम्बे-चौड़े उपदेश देने की प्रवृत्ति आलोचना का विषय है। भाषा का परिवर्तन अवश्य इस उत्थान का महत्वपूर्ण कार्य है। खड़ी बोली, जिसकी आलोचना ब्रजभाषा के समर्थकों ने यह कहकर किया था कि इसमें काव्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, इस युग में परिमार्जित होकर काव्य भाषा का माध्यम बन गई। इस युग के अन्तिम चरण में कवियों ने भाषा की प्रतिकात्मकता और लाक्षणिकता के द्वारा अभिव्यञ्जना की प्रणाली में नवीनता लाने का प्रयास किया। यह सत्य है कि अभिव्यञ्जना की नवीन प्रणाली में उस उत्थान के कवि सौन्दर्य न ला सके, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस युग के कवियों ने कविता में मुक्तक गीतात्मकता, रहस्यभावना, मानवतावाद, और अभिव्यञ्जना की नवीन प्रणाली का कमसे कम प्रवेश मात्र कराकर नये युग (आधुनिक युग) अथवा आधुनिक युगके तृतीय उत्थानका समावेश किया।

तृतीय उत्थान के कवियों ने समाज सुधार की समस्या को एक नया रंग दिया। अब समाज सुधार न तो केवल नये आलोचना का विषय, और न समाज द्वारा सताये हुए प्राणियों के प्रति सहानुभूति का विषय है, वरन् संसार सुधार की नवीन योजना का एक अंग। आज का कवि मानवता वादी है। यह केवल भारत के हिन्दू समाज के सुधार की चेष्टा में लीन नहीं है, वरन् वह कामना करता है—समस्त मानव जाति की सामाजिक दासता और अत्याचारों से मुक्ति की। धार्मिक कविता के क्षेत्र में छायावाद और कहीं-कहीं रहस्यवादका विकास आधुनिक कविता की प्रधान प्रवृत्ति बन गई है। इस उत्थानकालमें देश भक्ति की कविता सक्रिय रही है। कवि सत्याग्रह गीत गाता है, जिसमें पग पग पर मातृ भूमि की स्वतंत्रताके लिये आत्म बलिदान की भावना भरी है। प्रेम और प्रकृति को भी आधुनिक कवियों ने अपनाकर उनका विकास किया। अब प्रेम बाह्यार्थ निरूपिणी प्रेम नहीं रह गया है। प्रेम का वह सच्चा सत्य रूप जहाँ जीवन का मोह, प्राण की वासना, हृदय की अभिलाषा, मान का ध्यान तथा अपमान का गुमान मनुष्य भूल जाता है—आज कवि के सामने हैं। प्रकृति भी अब केवल वासनामय प्रवृत्तियों के उद्दीपन में सहायता देने वाली न रही। अब कवि प्रकृति के भव्य और साधारण दोनों रूपों से प्रेम करता है। उसके सम्पर्कमें आकर कवि को प्रसन्नता होती है। भाषा की क्लिष्टता

भी बहुत अंशों में दूर हुई है और इसकी गीतात्मकता का सफलतापूर्वक विकास हो रहा है। छन्दों के प्रयोग में भी कवि स्वतन्त्र हो गये हैं। नवीन छन्द तो नहीं, क्योंकि नये छंदों का सृजन तो शायद संभव नहीं, लेकिन वे छन्द जो शायद पूर्व में प्रयोग से वंचित हो गये थे उनका प्रयोग अवश्य होने लगा है, चाहे नाम बदल दिये गये हों। नवीन क्षेत्र में एक नूतन काव्यधारा का जन्म हो रहा है, यह है क्रान्तिकार का जन्म। इसके जन्म का कारण यह है कि आज के अधिकांश कवि इतने सम्पन्न नहीं हैं कि वास्तवितकता से अपने को दूर रख कर फैशन के लिये कविता का निर्माण करें।

हाँ यह निर्विवाद है कि नई अनुभूतियों के समावेश, तथा अभिव्यञ्जना-पद्धति में नए प्रयोगों का आरम्भ काव्य के अव्यवस्था का जन्म दे रहे हैं। बहुत से कवियों की कविता में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग इसका ज्वलन्त उदाहरण है। ये उपद्रव और अव्यवस्था काव्य के परिवर्तन और संक्रान्ति के युग में अवश्यम्भावी हैं। परन्तु ये कठिनाइयाँ अनतिक्रम्य नहीं होतीं। हिन्दी काव्य का भविष्य उज्वल है, इसमें शाश्वत महत्व की पर्याप्त सामग्री है, जो इसके स्वतंत्र विकास एवं आशापूर्ण भविष्य का द्योतक है।

—तारकनाथ अग्रवाल

सूचीपत्र

—:o:—

विद्यापति

(१)

नन्दक नन्दन कदँबेरि तरु तरे धिरे-धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव॥
सामरि, तोरा लागि अनुखन बिकल मुरारि।
जमुना के तिर उपबन उदवेगल फिरि-फिरि ततहि निहारि॥
गोरस बेचए अबइत जाइत जनि-जनि पूछ बनमारि।
तोंहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन बचन सुनह किछु मोरा॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौबति बन्दह नन्द-किशोरा॥

(बन्दना)

(२)

माधव कत तोर करब बड़ाई।
उपमा तोहर कहब ककरा हम कहितिहुं अधिक लजाई॥
जौं श्रीखण्डक सौरभ अति दुर्लभ तौ पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीश निशाकर तौ पुनि इकहि पक्ष इजोर॥
मनि समान अओरो नहिं दूसर तिन कहुं पाथर नामे।
कनक कदलि छोट लज्जित भए रहु कि कहु ठामहि ठामे॥

तोहर सरिस एक तोहं माधव मन होइछ अनुमाने।
सज्जन जन सों नेह कठिन थिक कवि विद्यापति भाने ॥

(*कृष्णकीर्ति*)

(३)

तातल सकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित-रमनि समाजे।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काजे ॥
माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुं जगतारन दीन दयामय अतए तोहर बिसवासा ॥
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुबन रमनि-रभस रंग मातनु तोहे भजब कोन बेला ॥
कत चतुरानन मरि-मरि आओत न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुन तोहे समाओत सागर लहरि समाना ॥
भनइ विद्यापति सेष समय भए तुअ बिन गति नहिं आरा।
आदि अनादि नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा ॥

(*कृष्णकीर्ति*)

(४)

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
सेहि पिरित अनुराग बखानिए तिल-तिल नूतन होय ॥
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुर बोल स्रवनहि सूनल स्रुति पथे परस न गेल ॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल न बुझल कइसन केल।
लाख-लाख जुग हिय-हिय राखल तइओ हिय जुड़ल न गेल ॥

कत बिदगध जन रस अनुमोदई अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत लाखे न मिलल एक॥
(*भावोल्लास*)

(५)

आएल ऋतुपति राज बसन्त, धाओल अलिकुल माधव पंथ।
दिनकर किरन भेल पौगण्ड, केसर कुसुम धएल हेमदण्ड॥
नृप-आसन नव पीठल पात, कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलि रसाल-मुकुल भेल नाम, समुख ही कोकिल पञ्चम गाय॥
सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र, द्विजकुल आन पढ़ आसिख मंत्र।
चन्द्रताप उड़े कुसुम पराग, मलय बनन सह भेल अनुराग॥
कुन्द बल्लि तरु धएल निसान, पाटल तून असोक दलवान।
किंसुक लवंग लता एक संग, हेर सिसिर ऋतु आगे दल भंग॥
सैन साजल मधु-मखिका कूल, सिरिरक सबहु कएल निरमूल।
उधारल सरसिज पाओल प्रान, निज नव दल करु आसन दान॥
नव वृन्दावन राज बिहार, विद्यापति कह समयक सार॥
(*वसन्त*)

कबीर

गुरुदेव कौ अंग—

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥ १॥
गँगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‍या बाण॥ २॥

सतगुर हम सूँ रिझि करि एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥ ३॥
कबीर बादल प्रेम का हम पर बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आतमाँ हरी भई बनराइ ॥ ४ ॥
पूरे सूँ परचा भया सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल किन्हीं आतमा, ताथैं सदा हजूरि ॥ ५ ॥

सुमिरण कौ अंग—

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥ ६ ॥
च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिन्ता दास।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ॥ ७ ॥
तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥ ८ ॥
कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ हरिनाम।
सूली ऊपरि नट विद्या गिरूँ त नाहीं ठाम ॥ ९ ॥
कबीर चित चमंकिया चहूं दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥ १० ॥

परचा कौ अंग—

अंतर कवल प्रकासिया, ब्रह्मबास तहाँ होइ।
मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जाणैंगा जन कोइ ॥ ११ ॥
घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥ १२ ॥

गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बन्दगी कै कोई निज दास॥ १३॥
कबीर कँवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निसि अंधियारी मिट गई, बाजे अनहद नूर॥ १४॥
अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आबिगति अंतरि प्रगटे, लागै प्रेम धियान॥ १५॥

रस कौ अंग—

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥ १६॥
राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल॥ १७॥
कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ॥ १८॥
हरि रस पीया जाँणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैंमंता घूमत फिरै नाहीं तन की सार॥ १९॥
सबै रसाइन मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल एक घट में संचरै, तौ सब तन कंचन होइ॥ २०॥

चितावणी कौ अंग—

कबीर नौबत आपणी दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पट्टन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥ २१॥
सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़ा, बैसण लागे काग॥ २२॥

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
ना जाणैं कित मारिसी, कै घरि कै परदेश॥ २३॥
मानुष जनम दुलभ है देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार॥ २४॥
कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
नांगे हाथूँ ते गए, जिनकै लाख करोड़ि॥ २५॥
कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्याँ कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥ २६॥
कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके - हलके तिर गए, बूड़े तिन सिर भार॥ २७॥

माया कौ अंग—

कबीर माया पापणीं, फंध ले बठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि॥ २८॥
कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घांणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिन तोड़ी कुल की कांणि॥ २९॥
माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर॥ ३०॥
कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिलै, किसौं भरोसौ त्यांह॥ ३१॥
माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि।
कहु धौं किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि॥ ३२॥

काल कौ अंग—

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरैं, ज्यूँ तोरिणि आया बींद ॥३३॥
कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार।
जंत्र बेचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥३४॥
काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हसंत ॥३५॥
कबीर सब सुख राम है, और दुखाँ की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े कालि की पासि ॥३६॥

पद—

(१)

घूंघट के पट खोल रे तोको पीव मिलेंगे।
घट घट में वह सांई रमता कटुक वचन मत बोल रे॥
धन जोबन का गरब न कीजै झूठा पंचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बारि ले आसा सों मत डोल रे॥
जोग जुगत सो रंग महल में पिय पायो अनमोल रे।
कहै कबीर अनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

(२)

पानी बीच मीन पियासी, मोंहि सुन-सुन आवत हांसी।
आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी॥
घर में वस्तु धरी नहिं सुझै, बाहर खोजत जासी।
मृग नाभी मांहि कस्तुरी, बन बन खोजन जासी॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो! सहज मिलै अविनासी॥

(३)

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
पहलै पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाई॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई॥
बैलहि अरि मूंनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई॥
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥

(४)

चलि चलि रे भवरा कवल पास, भवरी बोलै अति उदास।
तैं अनेक पुहुप कौ लियौ भोग,सुख न भयौ तब बढ़्यो है रोग॥
हौं ज कहत तोसूं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार।
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यो है भूल॥
या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूं जैहौ कहाँ भागि।
पुहुप पुराने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख॥
उड़्यौ न जाइ बल गयौ है छुटि,तब भवरी रूंनी सीस कूटि।
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ॥
कहै कबीर मन को सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाव॥

नन्ददास

रामकृष्ण कहिए उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरे हैं, यह ब्रज माखन चोर॥
उनके छत्र चंवर-सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर॥

इनके लकुट मुकुट पीतांबर, नित गायन संग नन्द किसोर ॥
उन सागरमें सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख को कोर ॥
'नन्ददास' प्रभु सब तजि भजिये, जैसे निरखत चंद चकोर॥

भ्रमर गीत—

ऊधव कौ उपदेसु सुनौ ब्रजनागरी ।
रूप सील लावन्य सबै गुन-आगरी ॥
प्रेम-धुजा रसरूपिनी, उपजावत सुख पुंज ॥
सुन्दर स्याम विलासिनी, नव वृंदावन कुंज ॥
सुनो ब्रज-नागरी ॥ १ ॥

कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयौ ।
कहन समै संकेत कहूं अवसर नहिं पायौ ॥
सोचत ही मनमें रह्यो, कब पाऊँ इक ठाऊँ ।
कहि संदेस नन्दलाल कौ बहुरि मधुपरी जाऊँ॥
सुनो ब्रज-नागरी॥ २॥

जो उनके गुन होयँ बेद क्यों नेति बखानैं ?
निरगुन सगुन आत्मा रचि ऊपर सुख सानैं ॥
बेद पुराननि खोजि कै, पायो कितहुँ न एक ।
गुन ही के गुन होंहि तुम, कहौ अकासहि टेक ॥
सुनो-ब्रज नागरी ॥ ३ ॥

जौ उनके गुन नांहिं, और गुन भये कहां ते ?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहां ते ?

वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल बारि मिलि कीच॥
सखा सुन स्याम के॥ ४॥

प्रेम जु कोऊ बस्तु रूप देखत लौ लागै।
बस्तु दृष्टि बिन कहौ कहा प्रेमी अनुरागै॥
तरनि चन्द्रके रूप को, गुन गहि पायो जान।
तौ उनको कह जानिये, गुनातीत भगवान॥
सुनो ब्रज-नागरी॥ ५॥

तरनि अकाश प्रकाश तेजमय रह्यो दुराई।
दिव्यदृष्टि बिनु कहौ, कौन पै देख्यो जाई?
जिनकी वे आखैं नहीं, देखैं कब वह रूप।
तिन्हैं सांच क्यों ऊपजै, परे कर्म के कूप॥
सखा सुन स्याम के॥ ६॥

जो गुन आवै दृष्टि मांझ नहिं ईश्वर सारे।
इन सबहिनते वासुदेव-अच्युत हैं न्यारे॥
इंद्री-दृष्टि-विकार तें, रहत अधोक्षत ज्योति।
सुद्ध सरूपी जान जिय, तृप्ति जु तातें होति॥
सुनो ब्रज-नागरी॥ ७॥

नास्तिक जे हैं लोग, कहा जान हित-रूपै।
प्रगट भानु को छांड़ि गहैं परछाहीं धूपै॥
हम कौ बिन वा रूप के, और न कछु सुहाय।
ज्यों करतल आभास के, कोटिक ब्रह्म दिखाय॥
सखा सुन स्याम के॥ ८॥

रास पञ्चाध्यायी—

ताही छिन उडुराज उदित रस रास सहायक।
कुमकुम मण्डित बदन प्रिया तनु नागरि नायक॥
कोमल किरन अरुन मानों बन व्याप रही त्यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक छटा सी किरन कुंज रध्रंन जब आई।
मानहु वितन वितान सुदेस तनाव तनाई॥
मंद मंद चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई।
झलकत है जनु रमारमन प्रिय कौतुक आई॥
तब लीनीं कर कमल जोग माया सी मुरली।
अघटत घटना चतुरि बहुरि अधरन सुर जुर ली॥
जाकी छवि ते निगम अगम प्रगटित बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जानि मोहिनी सब सुख सागर॥
पुनि मोहन सों मिली कछुक कल गान कियो अस।
बाम विलोचन बास तियन मन हरन होय जस॥
मोहन-मुरली-नाद स्रवन किनों सब किनहूं।
जथा जथा विधि रूप तथा विधि परस्यों तिन हूँ॥
तरनि किरन ज्यों मनि पषान सबहिन के परसे।
सुरज कांति मणि बिना नहीं कछु पावक दरसे॥
सुनत चली ब्रज बधू गीत-धुनिको मारग गहि।
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहू अटको नहिं॥

नाद अमृत कौ पंथ रंगीलो सुच्छम भारी।
तेहि मग ब्रज तिय चलैं आन कोऊ नहिं पारी ॥
सुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतिनते न्यारी।
जिन्हें कहा कोउ कहै जोति सी जगत उजारी ॥
जे रुकि गई घर अति अधीर गुनमय शरीर बस।
पुन्य पाप प्रारब्ध रच्यो तन नाहिं पच्यो रस ॥
परम दुसह श्रीकृष्ण बिरह दुख ब्यापो जिनमें।
कोटि बरस लगि नरक भोग अघ भुगते छिन में ॥
पुनि रंचक धरि ध्यान पीय परिरंभन दिय जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग छिनहिं मंगल कीनों सब ॥
धातु पात्र पाषान परिस कंचन ह्वै सोहैं।
नन्द सुवन सों परम प्रेम यह अचरज को है ॥
ते पुनि तिहि मग चली रंगीली तजि ग्रह-संगम।
जनु पिंजरनते उड़े छुटे नवप्रेम विहंगम ॥
कोउ तरुनी गुनमय शरीर रति सहित चलीं टुकि।
मातु पिता पितु बंधु सबन झुकि नाहिं रहीं रुकि ॥
सावन सरित न रुकै करौ जो जतन कोऊ अति।
कृष्ण हरे जिनके मन ते क्यों रुके अगम गति ॥
चलत अधिक छबि फबत श्रवन मनिकुंडल झलकैं।
संकित लोचन चपल ललितजुत विपुलित अलकैं ॥

सूरदास

(१)

चरन कमल बंदौं हरि राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कौ सब कुछ दरसाइ॥
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तेहि पाइ॥

(२)

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महा मोह को नुपूर बाजत, निन्दा शब्द रसाल।
भरम भर्यो मन भयो पखावज चलत कुसंगति चाल॥
तृस्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया कौ कटि फेंटा बांध्यौ, लोभ तिलक दै भाल॥
कोटिक कला काछि देखराई, जलथल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँद लाल॥

(३)

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुवन चलत रेनु तनु मंडित मुख में लेप किये॥
चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन को तिलक दिये।
लर लटकन मानौ मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये॥
कठुआ कंठ बज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो संतकल्प जिये॥

(४)

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तिहारौ सोइ पार करौ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै सुरसरि नाम परौ॥
तन माया ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ॥

(५)

मैया कब बढ़ि है मेरी चोटी।
किति बार मोंहि दूध पिवत भई, यह अजहुँ है छोटी।
तू जो कहति बल की वेनी ज्यौं, ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत पोंछत, नागिनि सी भ्वैं लोटी॥
काँचौ दूध पिवावति पचि पचि, देति न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी॥

(६)

ऊधो हम आजु भईं बड़ भागी।
जिन अंखियन तुम स्याम बिलोके, ते अंखियां हम लागी॥
जैसे सुमन वास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसे, अंग-अंग सुख रागी॥
ज्यों दरपन में दरसन देखत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसे सूर मिले हरि हमको, बिरह व्यथा तनु लागी॥

(७)

खंजन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवननके, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते॥

मीरा

(१)

निपट बंकट छब अटके म्हारे नैना निपट बंकट छबि अटके।
देख्यां रूप मदन मोहन री पियत पियूख न मटके॥
वारिज भवाँ अलक मँतवारी नैन रूप रस अटके।
टेढ्याँ कट टेटे कर मुरली टेढ्या पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु रे रूप लुभानी गिरधर नागर नटके॥

(२)

स्याम सुन्दर पर वाराँ जीवड़ा डाराँ।
थारे कारण जग जन त्यागाँ लोक लाज कुल डाराँ॥
थे देख्या बिन कल ना पड़ताँ नैना चलता धाराँ।
क्या सूं कहवाँ कोन बुझावाँ कठिन बिरह री धाराँ।
मीराँ रे प्रभु दरशन दीश्यो थे चरणाँ आधारा॥

(३)

कमल दल लोचना थे नाथ्यां काल भुजंग।
कालिन्दी दह नाग नाथ्यां काल फण फण निरत करंत॥

कूँदाँ जल अन्तर ना डर्‌यां थे एक बाहु अनन्त।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर व्रज बनिता रो कन्त॥

(४)

शुन्या री म्हारे हरि आवांगा आज।
म्हैंला चढ चढ जोवां सजनी कब आवाँ महाराज।
दादुर मोर पपीआ बोल्या कोइल मधुरा शाज।
उमग्यां इंद चहूं दिश बरशां दामन छोड्या लाज।
धरती रूप नवां नवां धर्‌यां इंद मिलन रे काज।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर बेग मिल्यो महाराज॥

(५)

पग बांध घुंघर्‌यां नाच्यां री।
लोग कह्यां मीरा बावरी, शाशू कह्या कुल नाशां री।
विषरो प्यालो राणा भेज्याँ पीवां मीरा हाशां री।
तन मन वार्‌याँ हरि चरणां मां दरसन अमरित पाश्यांरी।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणां आश्यांरी॥

(६)

अब तो निबाह्यां बांह गह्याँ री लाज।
असरण सरण कह्यां गिरधारी पतित उधारण पाज॥
भौसागर मंझधार अधारां राख्या घनों नेवाज।
जुग जुग भीर हरां भगतां री दीस्यां मोच्छ अकाज॥
मीरा सरण गह्यां चरणा री लाज राख्या महराज।

(८)

हेरी म्हां तो दरद दिवानी म्हारां दरद ना जाण्यां कोय।
घायल री गत घायल जान्यां हियड़ो अगन संजोय।
जौहर कीमत जौहरां जान्याँ क्या जान्यां जिन खोय।
दरद री मास्यां दर दर डोल्यां बैद मिल्या ना कोय।
मीरा री प्रभु पीर मिटांगा जद बैद सांवरो होय॥

(९)

हरि थे हर्याँ जन री भीर।
द्रोपदा री लाज राख्या थे बढ्यायां चीर।
भगत कारण रूप नरहरि धर्यां आप सरीर॥
हिरणकस्यप थे संघार्यां धर्यां ना हिन धीर।
बूड़तां गजराज राख्यां कर्यां कुंजर पीर।
दासि मीरा लाल गिरधर हरां म्हारी पीर॥

तुलसीदास

(१)

अब लौं नसानी, अब ना नसैहौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायो नाम चारु चिंतामनि उर करते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचन हि कसैहौं॥

परबस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन, निजबस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुपहि प्रन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं॥

(२)

कबहुंक हौं येहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें, संत सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन अवगुन न कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यह पथ रहि, अविचल हरि-भक्ति लहौंगो॥

(३)

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जदपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितनि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहां लों।
अंजन कहा आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लों।
तुलसी सो सब भांति परम हित, पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

(४)

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी त पाप पुंजहारी॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोंसो।
मो समान आरत नहिं, आरतहर तोंसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु सखा तू, सब विधि हितु मेरो॥
तोहि मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन शरन पावै॥

(विनय पत्रिका से)

(१)

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोदकै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को,ठगिसी रही जे न ठगे धिक्से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन, नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससी में समसील उभै, नवनील सरोरुह से विकसे॥

(२)

वरदंत की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुन्डल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाहुं लला इन बोलन की॥

(३)

पुरतें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी, पट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरी बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्ण-कुटी करिहौ कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चली जलच्वै॥

(४)

जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेऊ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभूरि डाढ़े ॥
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाह को नेह लख्यौ, पुलकै तनु बारि बिलोचन बाढ़े ॥

(५)

सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल तिरीछीसी भौंहें ।
तून सरासर बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सौहें ॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै, तुम त्यौं हमरौ मन मोहें ।
पूछति ग्राम बधू सियसों, "कहौ सांवरे से, सखि, रावरे को हैं" ॥

(६)

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें, समुझाई कछू मुसुकाई चली ॥
तुलसी तेहि औसर सौहें सबै, अवलोकति लोचन लाहु अली ।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै, बिगसीं मनो मंजुल कंज कली ॥

(कवितावली से)

वर्षा वणन—

वर्षा काल मेघ नभ छाए । गर्जन लागत परम सुहाए ॥
लछिमन देखहु मोर गन, नाचत बारिद पेखि ।
गृही बिरति रत हरष जस, बिष्णु भगत कहुं देखि ॥
घन घमंड नभ गर्जत घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमक रही घन माहीं । खल कै प्रीति जथा थिरु नाहीं ॥

बरषहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल बौराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥

सिमिटि-सिमिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सद्गुन सज्जन पंहि आवा॥

सरिता जल जलनिधि मंहु जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंडबाद तें, गुप्त होहिं सदग्रंथ॥

दादुर धुनि चंहु दिसि सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
नव पल्लव भए बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥
अर्क जवास पात बिनु भएऊ। जस सुराज खल उद्यम गएऊ॥
खोजत कतहुं मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी॥
ससि सम्पन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥
महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥
देखियत चक्रबाक खग नाहीं। कलिहि पाई जिमि धर्म पराहीं॥
ऊसर बरषै तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥
बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
जंह-तंह रहे पथिक थकि नाना। जिमि इन्द्रियगन उपजें ग्याना॥

कबहुं प्रबल चल मारुत, जंह तंह मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं॥
कबहुं दिवस मंह निबिड़ तम, कबहुंक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥

(किष्किंधा काण्ड, रामचरित मानस)

रहीम

सतसई के दोहे—

कहि रहीम इक दीपतें, प्रगट सब द्युति होय।
तनु सनेह कैसे दुरै, दृग दीपक जरु दोय॥
जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहुं किन जाहिं।
जल में ज्यों छाया परी, काया भीजति नाहिं॥
तब ही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम॥
रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तरवारि॥
धूर धरत निज शीश पर, कहु रहीम किहि काज।
जिहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूंढत गजराज॥
राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन साथ।
जो रहीम भावी कतहुं, होति आपने हाथ॥

जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ तितही इतराय।
प्यादे से फ़रज़ी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय॥

नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन।
मीठो भावै लौन पर, अरु मीठे पर लौन॥

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥

रहिमन कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठ।
रीतें अनरीतें करत, भरे बिगारत दीठ॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटत रहत भुजंग॥

जो बड़ेन को लघु कहौ, नहिं रहीम घटि जाहिं।
गिरिधर मुरलीधर कहै, कछु दुख मानत नाहिं॥

कौन बड़ाई जलधि मिली, गंग नाम भौ धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम॥

रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचै दाम।
हरि बाढ़े आकाश लौं, तऊ बावनै नाम॥

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥

नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत।
ते रहीम पशुते अधिक, रीझेहु कछू न देत॥

मुकता करै कपूर करि, चातक जीवन जोय।
येतो बड़ो रहीम जल, ब्याल वदन विष होय॥

होय न जाकी छांह ढिग, फल रहीम अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही, जैसे तार खजूर ॥
रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बांटि न लैहैं कोय ॥
रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आई हैं, बनत न लागि है देर ॥
रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं।
उनसे पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥
रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरैं, मोती मानुष चून ॥
काज परै कछु और है, काज सरै कछु और।
रहिमन भाँवर के भये, नदी सेरावत मौर ॥
रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है, माखन चाखनहार ॥
रहिमन बिपदा तू भली, जो थोरे दिन होय।
हितु अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥
तैं रहीम मन आपनो कीन्हों चारु चकोर।
निसि बासर लाग्यो रहै, कृष्ण चन्द्र की ओर ॥

केशव दास

श्री राधा का शृंगार—

भूषण सकल घनसारही के घनश्याम,
कुसुम कलित केशरही छबि छाई सी।
मोतिनकी लरी सिर कंठ कंठ-माल हार,
और रूप ज्योति जात हेरत हेराई सी ॥
चन्दन चढ़ाये चारु सुन्दर शरीर सब,
राखी जनु सुभ्र सोभा बसन बनाई सी।
शारदा सी देखियतु देखो जाई 'केशोराई',
ठाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी ॥

(*कवि प्रिया से*)

सूर्योदय वर्णन—

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राननाथ भय ।
मानहु केशवदास कोकनद लोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मगंल घट ।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यों मानिक मयूख पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैंधो लसत दिग-भामिनिके भाल को ॥

(*रामचन्द्रिका से*)

जरा वर्णन—

बिलोकि शिरोरुह श्वेत समेत तनोरुह 'केशव' यों गुण गायो।
उठे किधौं आयु कि औधिके अंकुर शूल कि सुःख समूल नसायो।

लिख्यो किधौं रूपके पाणि परराजय रूपको भूप कुरूप लिखायो।
जरा शर पंजर जीव जस्यो कि जरा जरकंबर सो पहिरायो ॥१॥

अभिराम सचिक्कन श्याम सुगंधहु धामहुते जे सुभाइक के।
प्रतिकूल सबै दृगशूल भये किधौं शाल शृंगार के घाइक के॥
निजदूत अभूत जरा के किधौं अविताली जुरा जनुलाइक के।
सितकेश हिये यहि वेश लसै जनु साइक अतंक नाइक के ॥२॥

लसैं सित केश सरीर सबै कि जरा जस रूपे के पानी लिखायो।
सरूप को देश उदामकै कीलनि, कीलतु कै कै कुरूप नसायो॥
जरैं किधौं 'केशव'व्याधिनिकी किधौं ओपिके अंकुर अंत न पायो।
जरा शर पंजर जीव जस्यो कि जरा जरकंबर सो पहिरायो ॥३॥

रसखान

(१)

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि कौ, जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौं खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिंहू पुर को तजि डारौं।
आठहू सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥

नैनन सो रसखानि जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम, करील की कुञ्जन ऊपर वारौं॥

(३)

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुञ्ज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी वन, गोधन ग्वारन संग फिरौंगी॥
भावतो मोंहि मेरौ रसखानि सों, तेरे कहै सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

(४)

खंजन नैन फंदे पिंजरा छवि, नाहिं रहैं थिर कैसे हुं माई।
छुटि गई कुल कानि सखी, रसखानि लखी मुसुकानि सुहाई॥
चित्र कढ़े से रहैं मेरे नैन न बैन कढ़ैं मुख दीन दुहाई।
कैसी करौं जित जाऊँ अली, सब बोल उठैं यह बावरी आई॥

(५)

बैन वही उनको गुन गाइ, और कान वही उन बैन सो सानी।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पांय वही जो उन्हैं अनुजानी॥
जान वही उन प्रान कै संग, औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानि॥

(६)

ब्रह्म मैं ढूंढ्यो पुरानन गानन, वेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यो कबहूं न कितूँ, वह कैसे स्वरूप औ' कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पस्यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुञ्ज कटीर में, बैठो पलोटत राधिका पायन॥

(७)

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(८)

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अंगना मग, पैजनी बाजती, पीरी कछौटी॥
वा छवि कौ रसखानि बिलोकत, वारत काम कला निधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए हरि, हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥

(९)

सोहत है चँदवा सिर मोर के, जैसिये सुन्दर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजति, जैसी हिए बनमाल लसी है॥
रसखानि विलोकति बौरी भई, दृग मूंदि कै ग्वारि पुकारि हँसी है।
खोलरी घूँघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैनन मांझि बसी है॥

सेनापति

(१)

जनक नरिन्द नन्दिनी को बदनारविन्द,
सुन्दर बखानो सेनापति बेद चारि कै।
बरनी न जाई जाकी नेकहू निकाई,
लोनुराई करि पंकज निसङ्क डारै मारि कै।

बार बार जाकी बराबरी को बिधाता अब
रचि पचि विधु को बनावत सुधारि कै।
पूनो को बनाय जब जानत न वैसो भयो,
कुहू के कपट तब डारत बगारिकै॥

(२)

धातु सिलदारू निरधारु प्रतिमा को सार,
सो न करतार है विचार बीच गेह रे।
राखि दीठि अन्तर जहां न कछु अन्तर है,
जीभ को निरन्तर जपावत हरे हरे।
अञ्जन विमल सेनापति मन रञ्जन दै,
जपि के निरञ्जन परम पद लेह रे।
करि न सन्देह रे वही है मन देहरे,
कहा है बीच देहरे कहा है बीच देहरे॥

(३)

वसन्त —

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं विलास संग,
श्याम रङ्ग भई मानो मसि मे मिलाये हैं।
तहां मधु काज आइ बैठे मधुकर पुञ्ज,
मलय पवन उपवन वन धाये हैं।
सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आये हैं।

आधे अङ्ग सुलगि सुलगि रहें आधे मानो,
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं॥
केतक अशोक नव चम्पक बकुल कुल,
कौन धौं बियोगिन को ऐसो बिकरालु है।
सेनापति सांवरे की सूरत की सुरति की,
सुरति कराय करि डारतु बिहालु है।
दच्छिन पवन एती ताहू की दवन जऊ,
सूनो है भवन परदेश प्यारो लालु है।
लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल जऊ,
फूले और साल पैं रसाल उर सालु है।

पावस— (४)

सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारि हूं दिसान घुमरत भरे तोई के।
सोभा बरसाने न बखाने जात कहुं भांति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ के।
घन सो गगन छयो तिमिर सघन भयो,
देखि न परत गयो मानो रवि खोइ के।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ के॥

(५)

शरद—

विविध बरन सुर चाप ते न देखियत,
मानो मनि भूषन उतारि धरे भेष हैं।

उन्नत पयोधर बरसि रसु गिरि रहें,
नीके न लगत फीके सोभा के न लेस हैं।
सेनापति आये तें सरद रितु फूलि रहे,
आस पास कास खेत खेत चहुं देस हैं।
जीवन हरन कुम्भजोनि के उदै ते भए,
बरषा विरिध ताके सेत मानो केस हैं॥

शिशिर— (६)

सिसिर में ससि को सरूप पावे सबिताऊ,
घामहुं में चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होति सीतलता है सहस गुनी,
रजनी की झाँई बासर में चमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चन्द के भरम होत मोद है कुमोदिनी को
ससि संक पंकजनी फूलि न सकति है॥

बिहारीलाल

सतसई के दोहे—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झांई परे, स्याम हरित दुति होय॥
सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥

मकराकृत गोपाल के, कुण्डल सोहत कान।
धस्यो समर हियगढ़ मनहुं, ड्योढ़ी लसत निसान॥
सखि सोहति गोपल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दानानल की ज्वाल॥
अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट ज्योति।
हरित बांस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति॥
मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यो राजत नंदनन्द।
मनु ससि सेखर के अकस, किये सेखर सतचन्द॥
सोहत ओढ़े पील पट, स्याम सलोने गात।
मनो नील मनि सैल पर, आतप पस्यो प्रभात॥
मोहन मूरति स्याम की, अति अद्‌भुत गति जोय।
बसति सुचित अन्तर तऊ, प्रतिविम्बित जग होय॥
जहां तहाँ ठाढ़ो लख्यो, स्याम सुभग सिर मौर।
उनहूं बिन छिन गति रहत, दृगनि अजौं वह ठौर॥
तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रजकेलि निकुञ्ज मग, पग पग होत प्रयाग॥
या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों त्यों उज्वल होय॥
नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानत हौं नन्दित करी, इहि दिसि नन्द किसोर॥
मोर चन्द्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखिबी पायन पर लुटत, सुनियत राधा मान॥

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि॥

किती न गोकुल कुल बधू, काहि न किन सिख दीन।
कौने तजीं न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन॥

अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकाश करै तितै, भरिये जितो सनेह॥

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुखचन्द।
समय आय सुन्दर शरद, काहि न करत अनन्द॥

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत, भौंर भौंर मधु अन्ध॥

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जात कितहू गुड़ी, तऊ उड़ावक हाथ॥

संगति दोष लगे सबन, कहे जु साँचे बैन।
कुटिल बंक भ्रू संग में, कुटिल बंक गति नैन॥

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अङ्ग॥

कैसे छोटे नरन तें सरत बड़नि के काम।
मढ़ो दमामो जात है, कहिं चूहे के चाम॥

अति अगाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥

बुरौ बुराई जो तजै तौ मन खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनै लोग उत्पात॥

बढ़त बढ़त सम्पति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाइ।
घटत घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाई॥

नर की अरु नल नीर की, एकै गति कर जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय॥

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराए जग, यहि पाए बौराय॥

दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साईं मति भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल॥

अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागन सो जिन प्रीत कर, कोयल दई बिड़ारि॥

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आंखि न देखी जाहिं॥

भूषण

शिवराज भूषण—

(१)

इन्द्र जिमि जृम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिबाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृगझुण्ड पर,
भूषण बितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं!
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं।

(२)

मदजल धरन द्विरद बल राजत,
बहु जल धरन जलद छबि साजै।
पुहुमि धरन फनिनाथ लसत अति,
तेज धरन ग्रीषम रवि छाजै।
खरग धरनं सोभा भट राजत,
रुचि भूषण गुन धरन समाजै।
दिल्लि दलन दक्खिन दिसि थम्भन,
ऐंड़ धरन सिवराज विराजै।

(३)

चित्त अनचैन आंसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहै बैन मियाँ कहियत काहिनै।
भूषण भनत बूझे आये दरबार तें,
कँपत बार-बार क्यों सम्हार तन नाहिनै।
सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ दाहिनै।
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय तुम्हे,
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै॥

(४)

ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते, वै तीन बेर खाती हैं॥
भूषण सिथिल अङ्ग भूषण सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते, वै बिजन डुलाती हैं।
भूषण भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥

(५)

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।

बिलखि-बदन बिलखात बिजैपुरपति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर कांपत कुतुब साहि गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराजके नगारन की धाक सुनी,
केते पातसाहन की छाती धरकति है॥

(६)

डाढ़ीके रखैयन की डाढ़ी सी रहती छाती,
बाढ़ी मरजाद जैसी हद हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषण भनत दिल्लीपति दिल धकधका,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की॥

देव

(१)

पायन नूपुर मंजु बजैं,
कटि किंकिन में धुनिकी मधुराई।
सांवरे अंग लसै पटपीत,
हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥

माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल,
मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर,
श्री ब्रज दूलह देव सुहाई॥

(२)

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनन्त मगु,
दुनौ के नदीस नदु, इन्दिरा फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजबीथी बिथुरै परी॥
भादौं की अन्धेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय के संयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे एक बार ही कुरै परी॥

(३)

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

(४)

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे कों आज'
फूली न समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूदैं मेरे आंसु ह्वै दृगन में॥

(५)

बागो बनो जरपोस को ता मंहि ओस को हार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चल्यो, चढ़ि कागद की छतुरी सर दीने॥
काँख में बाँधि कै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने।
मोम के मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने॥

(६)

प्रेम पयोधि परो गहिरे अभिमान को फेन रह्यो गहिरे मन।
कोप तरङ्गनि सों बहिरे पछिताय पुकारत क्यों बहिरे मन॥
देव जू लाज जहाज तें कूदि रह्यो मुख मूँदि अजौं रहिरे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन॥

घन आनन्द

(१)

जाहित मात को नाम जसोदा
सुबंस को चन्द्रकला कुलधारी।
सोभा समूह मई घन आनन्द,
मूरति रंग अनंग जिवारी।
जान महा सहजै रिझवार,
उदार विलास सुरास विहारी।
मेरो मनोरथ हू पुरवौ,
तुमही मो मनोरथ पूरनकारी ॥

(२)

जिन आंखिन रूप चिन्हारि भई
तिनको नित ही दहि जागनि है।
हित पीरसों पूरित जो हियरो,
फिरि ताहि कहाँ कहु लागनि है।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ,
जियराहि सदा दुख दागनि है।
सुख में मुखचन्द बिना निरखे,
नखते सिख लौं बिख पागनि है।

(३)

पर काजहि देह को धारे फिरौ,
परजन्य: जथारथ ह्वै दरसौ।

निधि नीर सुधा के समान करौ,
सबही बिधि सुन्दरता सरसौ।
घन आनन्द जीवन दायक हौ,
कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवानि कौं लै बरसौ॥

(४)

अति सूधो सनेह को मारग है,
जँह नैकु सयानप बाँक नहीं।
तँह साँचे चलैं तजि आपनपौ,
झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ,
इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला,
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

(५)

आँखिन को जो सुख निहारे जमुना के होत,
सो सुख बखाने न बनत देखिबेई है।
गौरस्याम रूप आदरस है दरस जाको,
गुपुत प्रगट भावना बिसेखिबेई है।
जुग कूल सरस सलाका दीठि परत ही,
अञ्जन सिंगार रूप अवरेखिबेई है।

आनंद के घन माधुरी की झर लागि रहै,
तरल तरगंनि की गति लेखिबेई है ॥

(६)

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन वारि
तो सों और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै ।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनंद-निधान सुखदान दुखयानि दै ॥
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब है अमोही बैठे पीठि पहिचानी दै ।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा हा ! नैकु आनि दै ॥

वृन्द

दोहे—

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात ।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात ॥
जाही ते कछू पाइये, करिये ताकी आस ।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥
दिबो अवसर को भलो, जासों सुधरै काम ।
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम ॥
अपनी पहुँच बिचारि कै, करतब करिये दौर ।
तेते पाँव पसारिये, जेती लांबी सौर ॥

ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय।
जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घट जाय॥
रहे समीप बड़ेन के, होत बड़ो हित मेल।
सबही जानत बढ़त है, वृक्ष बराबर बेल॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप।
करुवी भेषज बिन पिये, मिटै न तन की ताप॥
फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजे ब्यौपार।
जैसे हाँडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार॥
नयना देत बताय सब, हिय कौ हेत अहेत।
जैसें निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत॥
अति परिचै तें होत है अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देति जराय॥
सबै सहायक सबल कें, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय॥
जैसे बंधन प्रेम को, तैसे बंध न और।
काठहि भेदै कमल को, छेद न निकरै भौंर॥
जे चेतन ते क्यों तजैं, जाको जासों मोह।
चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह॥
जिहि प्रसंग दूसन लगै, तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ॥
मूरख गुन समुझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जौ न उलूक॥

दोषहिं को उमहै गहै, गुन न गहै खल लोक।
पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोंक॥
कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर।
समय पाये तरुवर फलै, केतक सींचो नीर॥
उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुन सो गुन होय।
घन संग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय॥
कुल सपूत जान्यौ परै, लखि सुलच्छन गात।
होनहार बिरवान कै, होत चीकने पात॥
बुरौ तऊ लागौ भलौ, भली ठौर पर लीन।
तिय नैननि नीकौ लगै, काजर जदपि मलीन॥
छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय।
अगिन परी तृनरहित थल, आपहि ते बुझि जाय॥

(दृष्टान्त सतसई से)

गिरिधर कविराय

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामें माँ सोय।
छाँह न वाकी बैठिये, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि, टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरधर कविराय, छांह मोटे को गहिये।
पाता सब झरि जाय, तऊ छाया में रहिये॥१॥

साइँ अपने भ्रात को, कबहुं न दीजै त्रास।
पलक दूरि नहिं कीजिये, सदा राखिये पास॥
सदा राखिये पास, त्रास कबहूँ नहिं दीजै।
त्रासि दयो लंकेश, ताही की गति सुन लीजै॥
कह गिरिधर कबिराय, रामसों मिलियो जाई।
पाय विभीषण राज लङ्कपति बाज्यो साईं॥२॥

चिन्ता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि लगि जाय।
प्रगट धुआँ नहिं देखियत, उर अन्तर धुँधुवाय॥
उर अन्तर धुंधुवाय, जरै ज्यों कांच की भट्ठी।
जरिगै लोहू मांस, रह गई हाड़ की ठट्ठी॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापै चिन्ता॥३॥

दौलत पाय न कीजिये, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारिको ठांउ न रहत निदान॥
ठांऊ न रहत निदान, जियत जग में यश लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजै॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशिदिन चारि, रहत सबही के दौलत॥४॥

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥

शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को एक रंग, काग भये सबै अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिन गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥५॥

हरिश्चन्द्र

(१)

दोहे—

भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर॥
जेहिं लहि फिर कछु लहन की, आस न जिय में होय।
जयति जगत - पावन-करन, प्रेम बरन यह दोय॥
मोरौ मुख घर-ओर सों, तोरौ भव के जाल।
छोरौ सब साधन, सुनौ, भजौ एक नंदलाल॥
सब दीननि की दीनता, सब पापिन को पाप।
सिमिटि आइ मोंमे रह्यो, यह मन समुझहु आप॥
प्रगट प्रेम-पद्धति कही, लही कृपा - अनुसार।
आनंदघन उनयौ सदा, अद्भुत रस-आगार॥
प्रेम-परावधि ब्रजबधू, सुनि बंसी - धुनि मंद।
तजति भई सब सकुच तब, भजति भई ब्रजचंद॥
श्रीपद अंकित ब्रज-मही, छबि न कही कछु जाइ।
क्यों न रमाहू कौ हियो, या सुख को ललचाइ॥

एक कृपा-बल पाइए, मति-गति-रति भरिपूरि।
निकट होति पाछे परै, श्रीपद-पंकज-धूरि॥
परम-प्रेम-गति को लहै, मन बुधि थकी बिचारि।
या रस-बस मोहन रसिक, चहत अपुनपौ हारि॥
अतुल रूप गुन माधुरी, परम अपूरब साज।
गोपी औ गोपाल कौ, अति रसमसो समाज॥

(२)

अहो हरि, बस अब बहुत भई।
अपनी दिसि बिलोकि करुणानिधि, कीजै नाहिं नई।
जो हमरे दोसन को देखौ, तो न निबाह हमारो।
करि कैं सुरत अजामिल गज की हमरे करम बिसारौ॥
अब नहिं सही जाति कोऊ बिधि, धीर सकत नही धारी।
'हरीचंद' को बेगि धाइकैं, भुज भरि लेहु उबारी॥

(३)

सँभारहु अपने को गिरिधारी।
मोर-मुकुट सिर-पाग पेंच कसि, राखहु अलक सवाँरी॥
हिय हलकति बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखौ, कंकन-फँसन निवारी॥
नूपुर लेहु चढ़ाइ किंकनी, खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकैं, बाँधौ हो बनवारी॥
हम नाहीं उनमें जिनकों तुम, सहजहिं दीनो तारी।
बानो जुगवौ नीकैं अब की, 'हरीचन्द' की बारी॥

(४)

रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि-रस छायौ, तिहिं क्यों भावै कोय॥
जा तन-मन में रमि रहे मोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै।
चाहौ जितनी बात प्रबोधौ, ह्यां को जो पतियावै॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
'हरीचन्द' ब्रज को कदलीबन, काटौ तौ फिरि फूलै॥

(५)

आइकैं जगत-बीच काहू सों न करै बैर,
कोऊ कछू काम करै इच्छा जौन जोई की।
ब्राह्मन की, छत्रिन की, बैसनि की, सूद्रनि की,
अंत्यज, मलेच्छ की, न ग्वाल की न भोई की॥
भले की, बुरे की, 'हरिश्चन्द'-से पतितहूं की,
थोरे की, बहुत की, न एक की न दोई की।
चाहे जो चुनिंदा भयौ जग बीच मेरे मन,
तौ न तू कबहूं निंदा करु कोई की॥

(६)

मन की कासों पीर सुनाऊँ ?
बकनो वृथा और पत खोनी, सबै चबाई गाऊँ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहैं, धरिहैं उलटो नाऊँ।
यह तौ जो जानै सोइ जानै, क्यों करि प्रगट जनाऊँ।
रोम-रोम प्रति नैन स्रवन मन, केहिं धुनि रूप लखाऊँ॥

बिना सुजान-सिरोमनि री, किहिं हियरो काढ़ि दिखाऊँ ॥
मरमिन सखिन बियोग दुखिन क्यों, कहि निज दसा रोआऊँ ।
'हरीचन्द' पिय मिलैं तो पग परि, गहि पटुका समझाऊँ ॥

(७)

आह्वान—

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ ।
लेहु म्यान सों खंग खींचि रन रंग जमाओ ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ ।
केसरिया बानो सजि सजि रन-कंकन बांधौ ॥
जौं आरजगन एक होई निज रूप सम्हारैं ।
तजि गृह कलहहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं ॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी ।
सिंह जगे कहुं स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ॥
इनको तुरतहिं हतो मिलैं रन कै घर माहीं ।
इन दुष्टन सों पाप किये हूं पुन्य सदाहीं ॥
चिंउटिहु पदतल दबै डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक ।
ये प्रतक्ष अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक ॥
उठहु बीर तलवार खींचि मारहु घन संगर ।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल जवन हृदय पर ॥
मारू बाजे बजैं कहौं धौंसा घहराहीं !
उड़हिं पताका सत्रु-हृदय लखि लखि थहराहीं ॥

चारन बोलहिं आय-सुजस बन्दी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन मंह नासहिं आर्य नीच जवनन करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

नाथूराम शंकर शर्मा

(१)

कविता—

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में,
　　　छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बंधिबो है मृणाल सो मत्त करी,
　　　जूही फूल सों शैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर'
　　　रेणु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को,
　　　सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥

(२)

माँग—

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है,
कि श्यामघन-मण्डल में दामिनी की धारा है।

यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है,
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है ॥
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है,
कि ढाल पर खाँड़ा काम का दुधारा है ॥

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

गजेन्द्र मोक्ष—

रमत रमाके संग आनंद-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतंग अवरोधे पैं।
कहै 'रतनाकर' बदन-दुति और भई,
बूँदैं छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पैं ॥

धाये उठि, बार न उबारन में लाई नैंकु,
चंचला हूं चकिन रही ह्वै बेग साधे पैं।
आवत वितुंड की पुकार मग आधै मिली,
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधे पैं ॥

संगवारे महत मतंगनि के संग सबै,
निज-निज प्रान लै पराने पुसकर तैं।
कहै 'रतनाकर' विचारौ, बल हार्‍यो तब,
टेरि हरि पार्‍यौ कल कंज गहि सर तैं ॥

पहुँचन पायो पुनि बारि लौं न जौलौं वह,
तौलौं लियौ लपकि उबारि हरबर तैं।
एक तैं ललायौ, चक्र एक तैं चलायौ,
गह्यौ एक तैं भुसुंड, पुंडरीक एक कर तैं ॥

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ।
कहै 'रतनाकर' निहारि करुना की कोर,
बचन उचारि, जो हरैया दुख साज कौ ॥

अंबु पूरि दृगनि बिलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीन्ह छत दंतिनि दराज कौ।
पति पर लै लैके अँगौछत सरीर, कर—
कंजनि सौं पोंछत भुसुंड गजराज कौ।

श्री धर पाठक

धनि धनि श्री कश्मीर धननि, मन-हरनि सुहावनि।
धनि कश्यप जस धुजा, विश्वमोहिनि मनभावनि ॥
धन्य पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल छवि।
स्वर्ग सहोदरि धरनि, बरनि हारे कोविद कवि ॥
धन्य यहां की धूलि, धन्य नीरद, नभ, तारे।
धन्य धवल हिमशृंग, तुंग, दुर्गम दृग-प्यारे ॥
धन्य नदी नद स्रोत, विमल गंगोद- गोत जल।
सीतल सुखद समीर, वितस्ता-तीर स्वच्छ थल ॥

धनि उपवन उद्यान, सुमन सुरभित वनवीथी।
खिलि रहीं चित्र विचित्र, प्रकृति के हाथनु चीती॥
धन्य सुथर गिरिचरन, सरित निर्झर रव पूरित।
लघु दीरघ तरु विहग बोल, कोकिल कल कूजित॥
मृदुल-दूब-दल रचित, कुसुम-भूषित सुचि शाद्वल।
ललित लतावलि वलित, कलित कमनीय, सलिल थल॥
धनि सुखमा सुख मूल, सरित सर कूल मनोहर।
धनि सागर सम तूल, विमल विस्तृत 'डल' 'वूलर'॥
मानसरोवर-मान-हरन सुन्दर, 'मानस बल'।
धनि 'गंगाधर, 'गगरीबल' अनिगर स्वच्छ 'डल'॥
एक एक सों सुघर अनेक सरोवर छाये।
प्रकृति देवि निज रूप लखन, मनु मुकुर लगाये॥
धन्य नगर श्रीनगर, वितस्ता-कूलनि सोहै।
पुलिन-भौन प्रतिबिम्ब, सलिल सोभा मन मोहै॥
सलत 'कदल' पुल सप्त, चपल नौकागन डोलैं।
रूप रासि नर नारि वारि बिच करत कलोलैं॥
'शेर गढ़ी' नृपभौन सरित तट सोहत सुन्दर।
बिज्जु दीप दुति निरखि स्वर्गपुरि दुरत पुरन्दर॥
गिरि ऊपर सों लगत नगर-छबि निपट निराली।
वर्गाकृति घर बगर बिछे बहु सोभा साली॥
सोहत सो चहुँ ओर, सुघर घर-अवलि एक सी।
बीच वितस्ता धार सजल सुचि रजत रेख सी॥

प्रकृति यहां एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल अम्बु सर मुकुरन मँह मुख बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति अति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्त रसारी॥
विहरति विविध विलास भरी जोबन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि॥
मधुर मंजु छबि पुंज छटा छिरकति बन कुंजन।
चितवति, रिझवति, हंसति, डसति, मुसकाति, हरति मन॥
यहँ सुरूप सिंगार रूप धरि, धरि बहु भाँतिन।
सर, सरिता, गिरि-सिखर, गगन, गह्वर तरुवर तृन॥
पूरन करिबे काज कामना अपने मन की।
किंकरता करि रह्यो प्रकृति-पंकज-चरनन की॥
चहुं दिसि हिम गिरि-सिखर हीर-मनि अवलि मनु।
स्रवत सरित-सित धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु॥
फल फूलन छवि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि उदर सों निधि रतनन की॥
हिम स्रैनिन सों घिर्‌यौ अद्रि मण्डल यह रूरौ।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुषमा-सुख पूरौ॥
बहु विधि दृश्य अदृश्य कलाकौशल सों छायौ।
रक्षन निधि नैसर्ग मनहु विधि दुर्ग बनायौ॥

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुन्दर?
को सोभा कौ भौन रूप कौ कौन समुन्दर?
काकौं उपमा उचित दैन दोउन में काकी?
याकौं सुरपुर की अथवा सुरपुर कौ याकी?
याकौं उपमा याही की मोही देत सुहावै।
या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै॥
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुरकानन सुन्दर।
यहिं अमरन कौ ओक, यहिं कहुँ बसत पुरन्दर॥
ताहि रसिकवर सुजन अवसि अवलोकन कीजै।
मम समान मन मुग्ध ललकि लोचन-फल लीजै॥

अयोध्या सिंह उपाध्याय, "हरिऔध"

(१)

यशोदा-उद्धव संवाद—

मेरे प्यारे सकुशल सुखी सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है सताती?
ऊधो, छाती वदन पर म्लानता भी तो, नहीं?
हो जाती है हृदय तल में तो नहीं वेदनाएं?
मीठे मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना,
धीरे प्रातों सहित सुत को कौन होगी खिलाती?
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था,

हा, पाता है न उसको प्राण प्यारा हमारा !
संकोची ही है परम अति ही धीर है लाल मेरा,
लज्जा होती अमित उसको मांगने पै सदा थी !
जैसे लेके सरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती,
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन बाम सकेगी ?
मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही बिताती,
हो जाती थी व्यथित, उसको म्लान जो देखती थी;
हा ! वैसे ही अब बदन को देखती कौन होगी,
ऊधो, माता सदृश ममता अन्य की है न होती।
खाने, पीने शयन करने आदि की एक बेला,
जो हो जाती थी कुछ टल कभी, खेद होता बड़ा था ;
ऊधो, ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी,
माता की सी अवनितल में है अमाता न होती।
जो पाती हूँ कुँवर मुख के जोग मैं भोग प्यारा,
तो होती है हृदयतल में वेदनाएं बड़ी ही।
जो कोई भी सुफल सुत के योग्य मैं देखती हूँ,
हो जाती हूँ व्यथित अति ही दग्ध होती महा हूँ।
जो लाती थीं विविध रंग के मुग्धकारी खिलौने,
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी,
हा ! जाती हैं पलट जब वे ही निराशा-निमग्ना,
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर मैं देखती हूं !
आते लीला निपुण नट हैं आज भी बांध आशा,

कोई यों भी न अब उनके खेल को देखता है;
प्यारे होते मुदित जितने कौतुकों से सदा थे,
वे आंखों में विषम दव हैं दर्शकों के लगाते!
प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था,
खाते-खाते पुलक पड़ता, नाचता कूदता था;
ये बातें हैं सरस नवनी देखते हैं याद आतीं,
हो जाता है मधुरतर और स्निग्ध भी दग्धकारी।
हा! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी,
सो आले में मलिन बन औ' मूक होके पड़ी है!
जो छिद्रों से अमियबरसा मूरि थी मुग्धता की,
सो उन्मत्ता परम विकला उन्मना है बनाती।
प्यारे ऊधो! सुरत करता लाल मेरी कभी है?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का?
रो-रोके विकल अपने बार जो हैं बिताते,
हा! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते?
कैसे भूलीं सरस खनि सी प्रीति की गोपिकाएं?
कैसे भूले सुहृदयपन के सेतु से गोप-ग्वाले?
शान्ता धीरा मधुर-हृदया प्रेमरूपा रसज्ञा,
कैसे भूली प्रणय प्रतिमा राधिका मोहमग्ना?
कैसा वृन्दा-विपिन बिसरा, क्यों लता-वेलि भूली?
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पूंजें गई हैं?
कैसे फूले बिपुल फल से नम्र भूजात भूले?

कैसे भूला विकचतरु सो कालिन्दी कूलवाला ?
सोती-सोती चिहँककर जो श्याम को है बुलाती,
ऊधो ! मेरी यह सदन की शारिका कान्त-कंठा !
पाला पोसा प्रतिदिन जिसे श्याम ने प्यार से है,
हा ! कैसे सो हृदयतल से दूर यों हो गई है !
कुंजों कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया,
जो प्यारी थीं परम ब्रज के लाड़िले को सदा ही,
खिन्ना, दीना, विकल बन में आज जो घूमती हैं,
ऊधो ! कैसे हृदय-धन को हाय, वे धेनु भूलीं ?

(प्रियप्रवास से)

(२)

दो बूंद—

न उसको मोती की है चाह,
न उसको है कपूर से प्यार ;
नहीं जी में है यह अरमान,
तू बरस दे उस पर जलधार।

स्वातिघन ! घूम-घूम सब ओर,
आँख अपनी तू मत ले मूंद ;
बहुत प्यासा बन चोंच पसार,
चाहता है चातक दो बूंद।

(३)

कली—

बच सकेगा नहीं भँवर रस से,
आ महक को हवा उड़ा लेगी;
पास पहुँचे बनी-ठनी तितली,
पँखड़ी को मसल दगा देगी।

छीन ले जायगी किरन छल से,
ओस की बूंद से मिला मोती;
फूलने का न नाम भी लेती,
जो कली भेद जानती होती।

(४)

दुरंगी दुनिया—

अजब है रंगत दुनिया की,
बदलती रहती है तेवर;
किसी पर सेहरा बँधता है,
उतर जाता है कोई सर।

किसी का पाँव नहीं उठता,
किसी को लग जाते हैं पर;
धूल में मिलता है कोई,
बरसता है फूल किसी पर।

मैथिलीशरण गुप्त

उर्मिला की विरह व्यथा—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी;
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं साल-हृदय में, ओ प्रिय-विशिख अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी?
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझ में उपल खनी,
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

(नवमसर्ग, 'साकेत')

(२)

दीपक-संग शलभ भी जला न सखि, जीत सत्व से तम को,
क्या देखना-दिखाना, क्या करना है प्रकाश का हमको!
दीपक भी जलता है! सखि पतंग भी जलता है, हा!—
दोनों ओर प्रेम पलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता—"बन्धु वृथा ही तू क्यों दहता?"

पर पतङ्ग पड़ कर ही रहता—कितनी विह्वलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बच कर हाय पतंग मरे क्या? प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं तो मरा करे क्या? क्या यह असफलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे—तुम महान, मैं लघु पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे? शरण किसे छलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलने में आली, फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग भाग्य लिपि काली, किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती, उसे चाहती जिससे चखती,
काम वहीं, परिणाम निरखती—मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

(*नवसर्ग, 'साकेत'*)

(३)

जीवन की जय—

मृषा मृत्यु का भय है, जीवन की ही जय है।
जीवन ही जड़ जमा रहा है, नित नव वैभव कमा रहा है,
पिता-पुत्र में समा रहा है, यह आत्मा अक्षय है,
जीवन की ही जय है!

नया जन्म ही जग पाता है, मरण मूढ़-सा रह जाता है,

एक बीज सौ उपजाता है, स्रष्टा बड़ा सदय है,
जीवन की ही जय है।

जीवन पर सौ बार मरूं मैं; क्या इस धन को गाड़ धरूं मैं ?
यदि न उचित उपयोग करूं मैं, तो फिर महा प्रलय है।
जीवन की ही जय है !

बापू के प्रति—

हम तो यह भी जान न पाये, तेरा क्या क्या दान रहा,
उसके गर्व और गौरव था, ज्ञान-ध्यान-सम्मान रहा।
औरों की क्या, हम अपनी ही आँखों में थे आप गिरे,
आया तू उत्थान हमारा, फिर भारत के भाग्य फिरे।
हाँके जाते थे हम पशु-सम और कौड़ियों से आँके,
झाँके फटे हृदय पे तूने, दिये स्नेहपूर्वक टाँके,
बाँधे थे सौ शस्त्र लुटेरे और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नैन छिन्दन्ति' मंत्र सा जगा, भगा सारा भय रोग।
"करो नहीं तो मरो, डरो मत, रक्षित है फल हरि के हाथ,"

होती कहाँ निराशा तुझको, अपनी करनी अपने साथ।
"यदि उदार हो कटु पीकर भी सबको मधु पीने दो तुम"
माँग न थी, आज्ञा थी तेरी—'जियो और जीने दो तुम !'
चुरा लिया हा ! आज हमारा प्यारा वह पारस किसने !
लोहे को सोना करने का चमत्कार पाया जिसने।
क्षिप्त तूल-लव तव स्नेह से दीप्त हुए धीरे धीरे,

तेरे आत्मा की ऊष्मा से बने कोयले भी हीरे ?
शंकरत्व पाकर कंकर भी तेरे हाथों चमक उठे,
अचरज क्या, आकर स्वदीप्ति में छिपे रत्न यदि दमक उठे।
(अंजलि और अर्घ्य)

गोपालशरण सिंह

(१)

नन्दलाल—

बोलो श्याम ! गोकुल की तंग गलियों में घूम
रंग था जमाता कौन बालक अहीर का ?
याद क्या नहीं है तुम्हें प्यारे ! ग्वाल बाल संग,
नित्य गेंद खेलना कलिन्दजा के तीर का ?
किसके विरह में बताओ बनता था सिन्धु,
ब्रज-बनिताओं के विलोचन के नीर का ?
चाहे दधि क्षीर का चुराना तुम्हें भूल जाय,
भूल सकता है क्या चुराना कभी चीर का ?
जाना भी था तो भुलाना था हमें न कभी,
क्या नहीं तुम्हें था फिर लौट कर आना कभी ?
तुमने सभी से यहां प्रीति थी बढ़ायी ख़ूब;
क्या नहीं तुम्हें था फिर उसको निभाना भी ?
तुम हो निठुर सदा हमको खिझाते रहे,
सीख गये अब तो तुम हमें कलपाना भी।

तोड़ोगे कहो, क्या निज नाता ब्रज-वासियों से,
छोड़ोगे भला क्या नन्दलाल कहलाना भी ?

कैसे ब्रजबासी भूल जायँ वे तुम्हारे मंजु,
मोर पंख, लकुट, रुचिर बनमाल को ?
मंजुल मराल का जो मान हरती थी सदा,
कैसे भूल जायँ वे तुम्हारी उस चाल को ?
तुम्हीं बतलाओ, करें कौन वे उपाय, हाय !
किस भाँति तोड़ें वे तुम्हारे प्रेम-जाल को ?
ब्रज को भले ही भूल जाओ, ब्रजचन्द तुम,
कैसे ब्रज भूले निज प्यारे नन्दलाल को ?

(२)

जीने की अभिलाषा—

यत्न से छिपाये हम चिरकाल से थे जिसे,
कह दिया उसे मूक वेदना की भाषा ने ;
किस भाँति शान्ति हमें मिलती भला ?
लेने दिया चैन नहीं उर की पिपासा ने।
कुहुकिनी आशा ने हमारा साथ छोड़ दिया,
पर अवलम्ब दिया आकर निराशा ने ;
कैसा है बनाया हमें अजब तमाशा एक,
जीने की हमारी इस तुच्छ अभिलाषा ने ?

(३)

विधि-विपर्यय—

है विकास एवं विनाश भी,
वसुधा की हरियाली में ;
उषा और सन्ध्या रहती है,
छिपी गगन की लाली में।

गति के साथ स्थिरता भी,
है अथाह जल सागर में ;
छिपे बहुत सुख दुख सागर हैं,
लघु जीवन के गागर में।

ज्योतिर्मय तारागण भी हैं,
अन्धकार से घिरे हुए ;
सने धूल में रुचिर रत्न हैं,
राज मुकुट से गिरे हुए।

हैं वसुधा की वर विभूतियाँ,
निर्जन वन में बसी हुई ;
कोमल कुसुमों की पंखड़ियाँ,
हैं काँटों में फँसी हुई।

(४)

संसार—

संसार देख विस्मित है, सुख दुख के खेल नियति के ;
जीवन ढूँढ़ा करता है, पद चिह्न काल की गति के।

आनन्द-दिवस आते हैं, पर जाते भी हैं क्षण में;
जग का जीवन है सीमित, लोचन के लघु जल-कण में।
छा जाती है जब मन में, मृदु हरियाली सावन की;
होती हैं तभी तरंगित, सब सरितायें जीवन की।
उर में निदाघ आते ही, आँखों मे पावस आता;
मन में प्रसून खिल जाते, जीवन वसन्त बन जाता।
अन्तर्रवि की किरणों से, होता प्रकाश जब उर में;
शतपत्र तभी खिलते हैं, शत शत जीवन के सर में।
रहता सदैव अन्तर्हित, सच्चिदान्द है मन में;
साधना किया करती है, विकसित उसके जीवन में।
गम्भीर उदधि के जल में, क्षिति के अदृष्ट अंचल में;
वर रत्न छिपे रहते हैं, जीवन के अन्तस्तल में।
यह मिट्टी की वसुधा भी, बन जाय स्वर्ग पल भर में;
गा उठे अगर यह जीवन, स्वर्गिक वीणा के स्वर में।
हो सकता है इस जग में, किसका किसका मूल्यांकन ?
जीवन करता रहता है, नित स्वयं आत्म विज्ञापन।
जीवन का मूल्य बताती, है मृत्यु अन्त में आकर;
जग शोक प्रकट करता है, तब लोचन बारि बहा कर।

———

गुरुभक्त सिंह 'भक्त'

नूरजहाँ—

अर्धनिशा में महानिविड़ तम घेरे था पृथ्वीतल,
अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलाई देता केवल।
अपर लोकवासी के लख पड़ते थे जो दृग तारे,
वे भी मेघों की पलकों में छिपे नींद के मारे।
वारिद तारों पर पावस ने बिजली को दौड़ाया,
हर्षनाद कर मित्रों को आगम जिसने बतलाया।
सूख गए थे जड़-जंगल जो बिरहानल खा-खाकर,
पुनः हरा कर दिया उन्हें जीवन सन्देश सुनाकर।
हरियाली उट्ठी ऊपर को मिलने वारिदमाला,
पुलकित होकर उतर मेघ ने वारि-करों को डाला।
नव-लतिकाएँ थिरक-थिरककर घुंघुरू लगीं वजाने,
घन दामिन संग ताल बजाकर लगा नाच दिखलाने।
मोती झड़ते देख श्याम-अलकों से दामिन-पट से,
कलियाँ झाँक-झाँक मुसकातीं पत्तों के घूँघट से।
रोमांचित भू ने पुलकित हो अगणित पुष्प चढ़ाए,
मेघ धूप ले अपने ऊपर भू को रहे बचाए।
छिपा 'पतंग' देख पृथ्वी ने कोटि 'पतंग' उड़ाए,
निशि में जुगनू के तारों को तम-नभ पर बिखराए।

घन पृथ्वी को छू-छू देता, पर्वत से टकराता,
मोर नचाता, नदी बहाता, शोर मचाता आता।
कहता रहता, जले न कोई, सब हों शीतल छाती,
दामिन मुझसे, लतिका तरु से रहे सदा लिपटाती।
पर पतंगनी नहीं मानती, स्नेह-चिता जब जागी,
जीवन-दीप दिया कर ठंढा, सह न सकी विरहागी।
पंख लगाकर अगम पंथ में मानों नव अभिलाषा,
नव-जीवन के सुख-सोहाग की मन में लिए पिपासा।
उड़ी, अभी दो-चार हाथ थी प्रेम ज्योति देखी जो,
गई वार मोहित-सी होकर तन-मन की सुध बुध खो।
हँसते-हँसते स्नेहानल में हुई एक मिल-मिलकर,
बिखरे पड़े अभी तक उसके हैं आशाओं के पर।
पवन उन्हीं से खेल रहा था ले जा नीचे-ऊपर,
भस्म आँख में डाल रहा था, पड़ी रही जो भू पर।
देख रहे थे नयन किसी के निशि-भर थे जो जागे,
कि कैसे हँसकर जलते हैं हृदय प्रेम-अनुरागे।
दृग-मृग चंचल रहे चौकड़ी भरते नभ से भू तक,
निद्रा हरियाली दिखलाकर हारी, सकी न छू तक।
फँसे न पलकों के फंदे में, जो रजनी ने डाले,
मन से होड़ लगाकर उड़ते रहे नयन मतवाले।
हत्याकांड, प्राण की आहुति, कठिन प्रेम की लीला,
सका न अधिक देख रमणी का कोमल हृदय रसीला।

किसी सोच में हो विभोर श्वासें कुछ ठंढी खींचीं,
फिर झट गुल कर दिया, दिया को, आंखें दोनों मीचीं।
ले निःश्वास पुनः खोली जो, देखा सम्मुख कोई;
लगी सोचने, मैं जगती हूँ सचमुच या हूँ सोई।
फिर आँखें मल लगी देखने, देखी मूरत काली,
तुरत झपटकर पहुँची उस पर झट तलवार निकाली।
बढ़ती हुई तड़पकर बोली —"ठहर! कौन? क्यों आया?
कर दूँगी तलवार पार मैं, पग जो एक बढ़ाया?"
खोल नक़ाब, कहा—"सलीम हूँ, मेहर! मुझे न रोको,
'शेर' मारकर बनें अकंटक, करो सहाय, न टोको।
बोलो नहीं, बताओ चुपके, कहाँ दुष्ट है सोया?
बस, उसका है अन्त आज ही, काटेगा जो बोया।
कल बंगाल कौन जाता है, भेजूँ उसे जहन्नुम,
और अभी ही साथ-साथ ही चुपके चली चलो तुम।"
"कौन? कौन? क्या तू सलीम है? क्या सलीम शहज़ादा!
पर घर जाकर, तस्कर बनकर, ऐसा नीच इरादा!
मेरा तो विश्वास और था, धोखा मैंने खाया,
जाओ, अभी निकल जाओ तुम, पग जो एक बढ़ाया।
देती हूँ आवाज़ अभी मैं, चोर पकड़ जाता है,
हत्यारे का हाथ अभी ही अभी जकड़ जाता है।
पर-नारी के घर में घुसना, पति का खून बहाने,
फिर भी अपने को सलीम कह आया मुँह दिखलाने!

रुको नहीं, उलटे पावों तुम फौरन पीछे जाओ,
होकर कौन, चले क्या करने, ज़रा शर्म तो खाओ।"
"मेहर! मेहर! क्या कहती हो, मैं हो गया पराया?
मेरी भावी साम्राज्ञी ने किसको है अपनाया?
जो मेरी आँखों में रहती, वही आँख दिखलावे,
जो कल संग हवा खाती थी, आज हवा बतलावे।
अपना ही साम्राज्य, उसी में घुसने तलक न पाऊँ,
मेरी वस्तु और ले जावे, मैं तकता रह जाऊं?
मैं ही खुद ही लूटा जाऊँ, मुझको कहो लुटेरा,
मुझको ही तुम चोर बनाओ, हृदय चुराकर मेरा!
पर 'अफ़गन' दिखला दो पहले, उसे खत्म तो कर लूँ,
उसके बाद कहोगी जो कुछ, करने को हाज़िर हूं।"
"बालापन से पूछो जाके उछृंखलता सारी,
सुमन-विकास, मधुर अलि-गुंजन, मुक्ताओं की क्यारी—
ऊषा निज अंचल में भरकर चलती हुई बिचारी,
जब से उस विवाह-दिनकर की आई इधर सवारी।
आज सलीम! बात करते हो जिससे, परनारी है,
जो अपने कर्तव्य-धर्म पर तन-मन-धन हारी है।
उससे उचित नहीं है तुमको, सोचो, अधिक ठहरना,
और किसी की पत्नी से यों बहकी बातें करना।
नहीं यहाँ साम्राज्य तुम्हारा, मेरा पावन घर है,
इसकी दीवारों के भीतर दम्पति-धर्म अमर है।

नहीं तुम्हारा राज्य चाहती, अपने घर की रानी,
ऐसे नहीं गिराना होता कभी आँख का पानी।"
मूर्ख बनो मत, सोचो समझो, धर्म-नीति मत छोड़ो,
महापतन की ओर न जाओ, पापों से मुख मोड़ो।
है वह कौन, मेरे जीते-जी उन पर हाथ चलावे?
कभी न होगा, लाखों ही का सर चाहे गिर जावे।
दोनों में से एक यहाँ पर पहले सो जावेगा,
तब फिर बाल एक भी बाँका उनका हो पावेगा।
एक बार मैं फिर कहती हूँ, चुपके से चल दीजे!
बहुत हो चुका है इतना ही, अधिक देर मत कीजे।
राह लीजिए घर की अपने, जाने मत यह कोई,
क्षण-भर जो तुम और रुके, तो अपनी इज्जत खोई।
विनय मानते हो चुपके से, या आवाज़ लगाऊँ,
या हो रक्त देखना ही, तो अपने हाथ दिखाऊँ?"
"ओ पाषाण हृदय! बस-बस अब जाता हूँ मैं जाता,
क्या सचमुच तू वही मेहर है, समझ नहीं कुछ आता।
कल जो प्यार मुझे करता था, आज वही दुत्कारे!
आज तलक के कोमल नाते रौंदे क्षण में सारे!
स्वप्न देखता था क्या-क्या मैं, तूने मुझे जगाया,
क्या सम्राट विश्व का होना, जो न तुम्हें अपनाया!
लाख बधाई! धन्य धन्य है! तू जीती, मैं हारा,
तेरे इस पाषाण-कोट में मेरा कहाँ गुज़ारा!

अन्तिम बिदा ! चूक सब मेरी, करना क्षमा दयाकर,
रमणी क्या रहस्य है, भगवन ! सोचूंगा घर जाकर।"
शीश झुकाकर दृष्टि डालता छिछली सी, रमणी पर,
बड़े वेग से लौट चल दिया फिर नक़ाब में छिपकर।
मेहर जमी रह गई वहीं पर, हिली न बोली चाली,
मौन-मूर्ति बन गई लिए कर में करवाल निराली।

(नवम सर्ग, नूरजहाँ)

जगन्नाथ प्रसाद, 'मिलिन्द'

सौन्दर्य और प्रेम—

प्रेयसि ! इन प्यासी पलकों में मन्दाकिनी प्रवाहित कर दो,
इन निःस्वन जीवन-छिद्रों को अपनी सुधा-श्वास से भर दो।
मेरी चंचल रूप तृषा को ढंक लो स्नेहांचल छाया में,
अमरलोक की करो प्रतिष्ठा मेरी इस नश्वर काया में।
यह अनिन्द्य सौन्दर्य ! आह ! इसपर मर्त्योंका क्या अधिकार ?
यह चिर यौवन ! इसे चाहिए अथक प्यार, अमरों का प्यार॥

आओ जग के कुश काँटों को पारिजात के पुष्प बनावें।
जन्म मरण की धूप-छाँह में चिर-शिशु, से खेलें सुख-पावें॥

तुम अन्तर की रूप-सुधा से मधुर करो त्रिभुवन का जीवन।
मैं प्राणों की प्रेमज्योति से जगमग कर दूँ जग का आंगन॥
अशिव, असुन्दर,की समाधि पर चिर-सुन्दर शिव का उत्थान।
एक साधना मानवता की! शत-शत स्वर्गों का निर्माण!

गया प्रसाद शुक्ल, 'सनेही'

बुझा हुआ दीपक—

करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तमतोम का काम तमाम किया, दुनियाको प्रकाशमें ला चुका हूँ॥
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और, सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ॥

जगतीका अंधेरा मिटाकर आँखोंमें आँखकी तारिका होके समाये।
परवा न हवाकी करें कुछ भी, भिड़े आके जो कीट पतंग जलाये॥
निज ज्योति से दे नवज्योति जहान को,
अन्त में ज्योति में ज्योति मिलाये।
जलना हो जिसे वह जले मुझ सा,
बुझना हो जिसे मुझ सा बुझ जाये॥

लघु मिट्टीका पात्र था, स्नेह भरा जितना उसमें भर जाने दिया।
धर बत्ती हिये पर कोई गया, चुपचाप उसे धर जाने दिया॥
पर हेतु जलता मैं निशा भर, मृत्यु का भी डर जाने दिया।
मुसकाता रहा बुझते-बुझते, हँसते-हँसते सर जाने दिया॥

रामनरेश त्रिपाठी

अन्वेषण—

मैं ढूँढता तुझे था जब कुञ्ज और वन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू,
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥

दुख से रुला-रुलाकर तूने मुझे चिताया,
मैं मस्त हो रहा था तब हाय अंजुमन में।
बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में॥

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में।
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं,
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में।
हरिचन्द्र और ध्रुव ने कुछ और ही बताया,
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में॥

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था, फ़रहाद कोहकन में।
क्रीसस की 'हाय' में था करता विनोद तू ही,
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन में॥

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में।
आखिर चमक पड़ा था गांधीकी हड्डियों में,
मैं तो समझ रहा था सुहराव पीलतन में॥

कैसे तुझे मिलूंगा जब भेद इस कदर है,
हैरान होके भगवन आया हूँ मैं शरण में।
तू रूप है किरण में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में॥

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में।
हे दीनबन्धु, ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू,
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में॥

कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में॥

———

माखनलाल चतुर्वेदी

उन्मूलित वृक्ष— (१)

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो-पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया उलटा दी प्रबल उमंगों के बल में।
लो हम तो चल दिए नए पौधो प्यारो! आराम करो,
दो दिन की दुनिया में आए, हिलो-मिलो कुछ काम करो।

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहां आते हैं, जो थे बागीचे आते,
झुकी टहनियां तोड़-तोड़कर बनचर भी खा जाते है।
शाखामृग कन्धों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं।

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु जीवित हैं, हाँ हरियाले हैं।
भूले-भटके कहीं गुज़रना हम वे ही फलवाले हैं॥

सौदा— (२)

चांदी सोने की आशा पर, अन्तस्तल का सौदा,
हाथ-पाँव जकड़े जाने को, आमिषपूर्ण मसौदा,
टुकड़ों पर जीवन की श्वासें—कितनी सुन्दर दर है!
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ—"कहां बधिक का घर है!"
दमयन्ती के 'एक चीर' की—मांग हुई बाजी पर,
देश निकाला स्वर्ग बनेगा तेरी नाराज़ी पर॥

पुष्प की अभिलाषा— (३)

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

दो साध— (४)

थके हुए दोनों पंखों को झाड़ चली वे दोनों,
टकराने को साधे हुए उभाड़ चली वे दोनों।
एक ले चली चहल-पहल में मुझे बनाने राजा,
और दूसरी ने निर्जन का सुन्दर कोना साजा।
बल पर! बलि पर कहाँ रहूं? किससे अपना हृदय कहूं?
खिलकर भी गुलाब खिलता है, बाहर की बेचैनी—
भावों की बेलें गढ़ती हैं जी में सरग नसैनी॥
एक जागते में जगती के भाव बिके सुख लहती,
और दूसरी अनजाने में मिट जाने को कहती।
हाय कांच के सपने क्रूर! मत कर जीवन चकना चूर।

———

जयशंकर, 'प्रसाद'

(१)

गीत—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा पर,नाच रही तरु शिखा मनोहर;
छिटका जीवन हरियाली पर मङ्गल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे;
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा-जल;
लहरें टकराती अनन्त की, पाकर जहाँ किनारा।
हेम कुम्भ ले उषा सबेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे;
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा।

(२)

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही—तारा-घट ऊषा नागरी,
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा, किसलयका अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी—मधु मुकुल नवल रस गागरी,
अधरों में राग अमन्द पिये, अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोयी है आली? आँखों में भरे विहाग री।

(३)

चिन्ता—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली !
री अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी भरी-सी दौड़ धूप,
ओ, जल माया की चल-रेखा।
इस ग्रह कक्षा की हलचल ! री,
तरल गरल की लघु लहरी,
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली बहरी !
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी !
अरी आधि ! मधुमय अभिशाप !!
हृदय-गगन में, धूम-केतु सी,
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप !
मनन करावेगी तू कितना ?
उस निश्चिन्त जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव।

आह ! विरेगी हृदय लहलहे
खेतों पर करका-घन सी,
छिपी रहेगी अन्तरतम में
सब के तू, निगूढ़ धन सी ।
बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता,
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है तू, जा, चल, जा—
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम ।

(*कामायनी*)

(४)

श्रद्धा—

एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द ।
अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ बिचार !
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार ।
दब रहे हो अपने ही बोझ से
खोजते भी न कहीं अवलम्ब;

तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?
समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास ।
बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्ही से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल ।
(*कामायनी*)

(५)

"जीवन निशीथ का अन्धकार
भग रहा क्षितिज के अञ्चल में, मुख आवृत कर तुमको निहार !
तुम इड़े ! उषा सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार !
कलरव कर जाग पड़े मेरे, ये मनोभाव सोये बिहङ्ग,
हँसती प्रसन्नता चाव भरी, बन कर किरनों सी तरङ्ग।

अवलम्ब छोड़कर औरों का, जब बुद्धिवाद को अपनाय
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।

(*इड़ा, कामायनी*

(६)

आँसू—

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई;
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के;
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल, मेरे उस महा मिलन के।
शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का;
यह व्यर्थ साँस चल-चलकर, करती है काम अनिल का।
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर, मेरे इस मिथ्या जग के;
थे केवल जीवन संगी, कल्याण कलित इस मग के।
कितनी निर्जन रजनी में, तारों के दीप जलाए;
स्वर्गङ्गा की धारा में, उज्वल उपहार चढ़ाए!
शशि मुख पर घूँघट डाले, अञ्चल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।
माना कि रूप-सीमा है, सुन्दर! तव चिर यौवन में;
पर समा गए थे मेरे, मन के निस्सीम गगन में।

बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से ;
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।

(७)

काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली ?
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली,
घन में सुन्दर बिजली सी, बिजली में चपल चमक सी,
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी।
प्रतिमा में सजीवता सी, बस गई सुछवि आखों में,
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।
कामना सिन्धु लहराता, छवि-पूर्ण प्रभा थी छाई,
रत्नाकर बनी चमकती मेरे शशि की परछाईं।
अभिलाषाओं की करवट, सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना भीगी पलकों का लगना।
उच्छ्वास और आँसू में विश्राम थका सोता है,
रोई आंखों में निद्रा बनकर सपना सोता है।

———

सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

मरण को जिसने बरा है— (१)

मरण को जिसने बरा है, उसी ने जीवन भरा है,
परा भी उसकी, उसी के, अङ्क सत्य यशोधरा है।
सुकृत के जल से त्रिसिञ्चित, कल्प किञ्चित, विश्व-उपवन,
उसी की निस्तन्द्र चितवन, चयन करने को हरा है।

गिरिपताक उपत्यका पर हरित तृण से घिरी तन्वी,
जो खड़ी है वह उसी की पुष्पभरणा अप्सरा है।
जब हुआ वञ्चित जगत में, स्नेह से आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो, उसी की कोमलकरा है।

(२)

बादल राग—

झूम झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में रव घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर।
अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू, बरस-बरस रस-धार !
पार ले चल चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार।
उथल पुथल कर हृदय—
मचा हलचल —
चल रे चल—
मेरे पागल बादल !

हँसता दल दल,
हँसता है, नद खल् खल्
बहता कहता कुलकुल, कलकल, कलकल !
देख देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल — बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से –
सघन घोर गुरु गहन रोर से,
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर-अम्बर में भर निज रोर !

(३)

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग
    गगन घन-घन-धार—(रे, कह)

गन्ध-व्याकुल-कुल-उर-सर,
लहर कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
    गूँज बारम्बार !—(रे, कह)

उदय में तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन,
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
    सार या कि असार ?—(रे, कह)

बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मङ्गल,
द्रवित जल नीहार !—(रे, कह)

——

सुमित्रा नन्दन पन्त

मौन निमन्त्रण—

(१)

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने, नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन !
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन,
मुझे इङ्गित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने, सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन,
न जाने, मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुलकी कल कण्ठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस-पलक-दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!

तुमुल-तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,

न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक-छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार;

न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण;

न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

न जाने, कौन अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान,

अहे, सुख-दुखके सहचर मौन !
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

छाया का गीत— (२)

अलस पलक, सघन अलक, श्यामल छवि छाया,
स्वप्निल मन, तंद्रिल तन, शिथिल वसन माया।

जीवन में धूप छाँह, सुख दुःख के गले बाँह,
मिटती सुख की न चाह, अमिट मोह माया।
जग के मग में उदास; आओ यदि पान्थ! पास,
हरूँ सकल ताप त्रास, शीतल हो काया।

(३)

जीवन वसन्त—

जग जीवन नित नव नव, प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव!
जीवन शाश्वत वसन्त, अगणित कलि कुसुम वृन्त,
सौरभ सुख श्री अनन्त, पल पल नव प्रलय प्रभव।
रवि शशि ग्रह चिर हर्षित, जल स्थल दिशि समुल्लसित,
निखिल कुसुम कलि सस्मित, मुदित सकल हों मानव!
आशा, इच्छानुराग, हो प्रतीति, शक्ति, त्याग,
उर उर में प्रेम आग, प्रेम स्वर्ग मर्त्य विभव!

छाया— (४)

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी, तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि! नल सा निष्ठुर कोई?
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति-सी मूर्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो, विरह मलिन दुख-विधुरासी?
पछतावे की परछाईं-सी तुम भू पर छाई हो कौन?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी, अपराधी-सी, भय से मौन!
निर्जनता के मानस-पट पर, बार बार भर ठंढी साँस
क्यों तुम छिप कर क्रूर काल का लिखती हो अकरुण इतिहास?

कालानिल की कुञ्चित गति में बार बार कम्पित होकर
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर नीरव शब्दों में निर्भर,
किस रहस्यमय अभिनय की तुम, सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है किस विचित्रता का संसार?
भग्न भावना, विजन वेदना, विफल लालसाओं से भर,
किस अतीत का करुण चित्र तुम खींच रही हो कोमलतर!

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा बढ़ कर नित तरुवर के सङ्ग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से ढँककर अपने कोमल अङ्ग,
सदुपदेश-सुमनों से तरु के गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर सेवा में रत रहती हो तुम हरती नित पथ-श्रान्ति अपार।

हाँ सखि! आओ बाँह खोल तुम, लग कर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

अनङ्ग— (५)

अहे विश्व-अभिनय के नायक!
अखिल सृष्टि के सूत्राधार!
उर उर की कम्पन में व्यापक!
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार!
ऐ असीम सौन्दर्य सिन्धु की,
विपुल वीचियों के श्रृङ्गार!
मेरे मानस की तरङ्ग में
पुनः अनङ्ग बनो साकार।

महादेवी वर्मा

(१)

गीत—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहती नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

(२)

शलभ मैं शापमय वर हूँ ! किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
ताज है जलती शिखा, चिनगारियाँ शृङ्गार-माला।
ज्वाल अक्षय कोष सी अङ्गार मेरी रङ्गशाला।
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !

नयन में रह किन्तु जलती पुतलियाँ आगार होंगी।
प्राण में कैसे बसाऊँ ? कठिन अग्नि समाधि होगी,
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु मन्दिर हूँ !
हो रहे झर कर दृगों से अग्नि कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल निश्वास बनते धूम श्यामल ;
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !

कौन आया था न जाने, स्वप्न में मुझको जगाने ;
याद में उन अङ्गुलियों की हैं मुझे पर युग बिताने ;
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सबेरा ;
प्राण आकुल के लिए सङ्गी मिला केवल अंधेरा ;
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।

(३)

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ !
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में ;
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में ;
प्रलय में मेरा पता, पदचिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में ;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !
नयन में जिसके जलद, वह तृषित चातक हूँ ;
शलभ जिसके प्राण में, वह निठुर दीपक हूँ ;
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ ?
आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के ;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में ;
नील घन भी हूँ, सुनहली दामिनी भी हूँ ?

नाश भी हूँ, मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी ;
तार भी, आघात भी झङ्कार भी गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी ;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ ?

(४)

उलझन—

अलि, कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल-ढुल जाते ;
इन पलकों के बन्धन में, मैं बाँध बाँध पछताऊँ !
मेघों में विद्युत-सी छवि, उनकी बनकर मिट जाती;
आँखों की चित्रपटी में, जिससे मैं आँक न पाऊँ।
वे आभा बन खो जाते, शशि-किरणों की उलझन में,
जिससे उनको कण-कण में, ढूँढ़ूँ, पहचान न पाऊँ !
सोते सागर की धड़कन, बन लहरों की थपकी से;
अपनी यह करुण कहानी, जिसमें उनको न सुनाऊँ !
वे तारक बालाओं की, अपलक चितवन बन आते;
जिसमें उनकी छाया भी, मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ !
वे चुपके से मानस में, आ छिपते उच्छ्वासें बन;
जिसमें उनको साँसों में, देखूँ पर रोक न पाऊँ।
वे स्मृति बनकर मानस में, खटका करते निशिदिन;
उनकी इस निष्ठुरता को, जिसमें मैं भूल न जाऊँ।

रामकुमार वर्मा

(१)

किरण कण—

एक दीपक-किरण-कण हूँ।

धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव - प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं;
सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

व्योम के उर में अगाध भरा हुआ है जो अंधेरा,
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया।
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

(२)

आत्मा की अनन्तस्मृति—

कवि, मेरा सूखा सा जीवन, रहने दो तुम सूना;
रहो दूर, मेरे सुख दुख की, स्मृतियाँ तुम मत छूना।
रङ्गों से मत भरो चित्र, धुँधली रहने दो रेखा;
मेरे सूखे से थल में, किसने गङ्गाजल देखा?

गीत-विहंग क्यों उड़े, अभी है मौन अन्धेरा मेरा,
हाय ! न जाने कहाँ सो रहा, स्मृति-सङ्गीत-सवेरा !
ओसों के अक्षर से अङ्कित कर दूँ व्यथा - कहानी,
उसमें होगा मेरी आँखों—के मोती का पानी।
उसे न छूना, रह जावेगी मेरी कथा अधूरी,
कैसे पार करूँगी फिर मैं, हृदय-अपरिचित दूरी ?
सुख की नहीं, किन्तु दुख ही की बनी रहूँगी रानी,
मेरे मन ही में रहने दो, मेरी करुण कहानी ?
अन्धकार का अम्बर पहने रात बिता दूँ सारी;
दीप नहीं तारक-प्रकाश में, खोजूँ स्मृति निधि. न्यारी।
ओस सदृश अवनी पर बिखरा कर यह यौवन सारा,
किसी किरण के हाथ समर्पित कर दूँ जीवन प्यारा।
तब तक यह सूखा सा जीवन रहने दो तुम सूना,
रहो दूर, मेरे सुख-दुख की स्मृतियाँ तुम मत छूना।

(३)

साधना सङ्गीत—

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !
आरती चूमे कि खिंचता जाय रञ्जित क्षितिज-घेरा,
धूम सा जलकर भटकता उड़ चले सारा अँधेरा,
हो शिखा स्थिर प्राण के प्रण की अचल निष्कम्प रेखा,
हृदय में ज्वाला, हँसी में दीप्ति की हो चित्र लेखा,

श्वास ही मेरी विनय की भारती बन जाय!
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय!
यह हँसी मन्दिर बने मुस्कान-क्षण हों द्वार मेरे,
मैं मिलूँ या तुम मिलो, ये मिलन-पूजा-हार मेरे!
आज बन्धन ही बनेंगे, मुक्ति में अधिकार मेरे,
क्यों न मुझ में अवतरित होकर रहो अवतार! मेरे?
प्राण वंशी बार-बार पुकारती बन जाय!
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय!

श्री भगवतीचरण वर्मा

(१)

मेरी आग—

निज उर वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन-चुन कर अपने अरमान,
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;
आमंत्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!!
आमन्त्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय रक्त से—निज वैभव से—थालों को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प-तड़प मरने वाले,
अन्धकार के महा उदधि में अन्धों से तरने वाले;

फूल चढ़ाने वे आए हैं जिनमें मिलता नहीं पराग,
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!!

इस उत्सव में आन जुड़े हैं हँस-हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल में तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले,
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!!

यहाँ हृदय वालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की बेला है,
आज विस्मरण के प्राङ्गण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है,
फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा उनका त्याग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!!

लपटें हों विनाश की जिनमें, जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्वासों के धूम्र-पुंज से ढक जावे जग का अभिमान,
आज प्रलय की वह्नि जल उठे, जिसमें शोला बने विराग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!!

(२)

हम दीवानों की क्या हस्ती ?
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले !
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले ;

आये बन कर उल्लास अभी,
आँसू बन कर बह चले अभी,
सब कहते ही रह गए, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?

किस ओर चले ? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिये चले,
जग को अपना कुछ दिए चले;

दो बात कही दो बात सुनीं !
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये
छक कर सुख दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिये चले !

हम भिखमंगों की दुनिया में,
स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले,
हम एक निशानी सी उर पर
ले असफलता का भार चले;

हम मान-रहित अपमान-रहित,
जी भर कर खुल कर खेल चुके

हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाज़ी हार चले!

हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नत मस्तक हो, मुख मोड़ चले,

अभिशाप उठा कर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले;

अब अपना और पराया क्या?
आबाद रहें रुकने वाले!
हम स्वयम् बँधे थे और स्वयम्
हम अपने बन्धन तोड़ चले!

(*प्रेमसंगीत*)

(३)

मैं कब से ढूँढ़ रहा हूँ
अपने प्रकाश की रेखा!
तम के तट पर अङ्कित है
निःसीम नियति की लेखा!

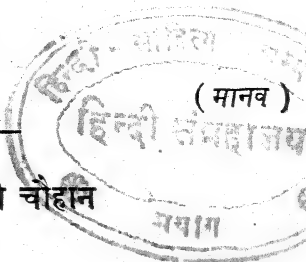
देने वाले को अब तक
मैं देख नहीं पाया हूँ!

पर पल-भर सुख भी देखा,
फिर पल-भर दुख भी देखा!
किस का आलोक गगन से
रवि शशि उडुगन बिखराते?
किस अन्धकार को लेकर
काले बादल घिर आते?
उस चित्रकार को अब तक
मैं देख नहीं पाया हूँ!

पर देखा है चित्रों को
बन-बन कर मिट-मिट जाते!
फिर उठना, फिर गिर पड़ना,
आशा है वहीं निराशा;
क्या आदि अन्त संस्कृति का
अभिलाषा ही अभिलाषा?
अज्ञात देश से आना,
अज्ञात देश को जाना!

अज्ञात—अरे क्या इतनी
है हम सबकी परिभाषा?
पल भर परिचित वन-उपवन
परिचित है जग का प्रतिकन!
फिर पल में वहीं अपरिचित
हम-तुम; सुख-सुषमा; जीवन।

है क्या रहस्य बनने में ?
है कौन सत्य मिटने में ?
मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा भूला अपनापन !



(मानव)

श्रीसुभद्रा कुमारी चौहान

(१)

मेरी प्याली—

अपने कविता कानन की मैं हूँ कोयल मतवाली।
मुझ से मुखरित हो गाती उपवन की डाली डाली।
मैं जिधर निकल जाती हूँ, मधुमास उतर आता है।
नीरस जन के जीवन में रस घोल-घोल जाता है।
सूखे सुमनों के दल पर, मैं मधु संचालन करती।
मैं प्राण-हीन का अपने प्राणों से पालन करती।
मेरे जीवन में जाने कितना मतवालापन है ?
कितने हैं प्राण छलकते कितना मधु-मिश्रित मन है ?
दोनों हाथों से भर-भर मैं मधु को सदा लुटाती।
फिर भी न कमी होती है, प्याली भरती ही जाती।

(२)

साध—

मृदुल कल्पना के चल पंखों
पर हम तुम दोनों आसीन,

भूल जगत के कोलाहल को
रच लें अपनी सृष्टि नवीन।
विनत विजन के शान्त प्रान्त में
कल्लोलिनी नदी के तीर,
बनी हुई हो वहीं कहीं पर
हम दोनों की पर्ण कुटीर।
कुछ रूखा सूखा खाकर ही
पीतें हों सरिता का जल,
पर न कुटिल आक्षेप जगत के
करने आवें हमें बिकल।
सरल काव्य सा सुन्दर जीवन
हम सानन्द बिताते हों,
तरु-दल की शीतल छाया में
चल समीर सा गाते हों।
सरिता के नीरव प्रवाह सा
बहता हो अपना जीवन,
हो उसकी प्रत्येक लहर में
अपना एक निरालापन।
रचें रुचिर रचनाएँ जग में,
अमर प्राण भरने वाली,
दिशि-दिशि को अपनी अपनी लाली से
अनुरंजित करने वाली।

तुम कविता के प्राण बनो मैं,
उन प्राणों की आकुल तान;
निर्जन वन को मुखरित कर दे
प्रिय! अपना सम्मोहन गान।

(३)

वीरों का कैसा हो वसन्त?—

वीरों का कैसा हो वसन्त?
आ रही हिमांचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग-दिगन्त।
वीरों का कैसा हो वसन्त?
फूली सरसों ने दिया रङ्ग।
मधु लेकर आ पहुँचा अनङ्ग;
वधु-वसुधा पुलकित अङ्ग-अङ्ग,
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त?
भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रङ्ग और रण का विधान,
मिलने आए हैं आदि-अन्त;
वीरों का कैसा हो वसन्त?

गलबाहें हों, या हो कृपाण,
चल-चितवन हो या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त ;
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लङ्के ! तुझमें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त;
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दी घाटी के शिला-खण्ड !
ऐ दुर्ग, सिंह-गढ़ के प्रचण्ड !
राणा, ताना का कर घमण्ड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त।
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमें बतावे कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

(४)

मेरा जीवन—

मैंने हँसना सीखा है, मैं नहीं जानती रोना ;
बरसा करता पल-पल पर, मेरे जीवन में सोना।
मैं अब तक जान न पाई, कैसी होती है पीड़ा ?
हँस-हँस जीवन में कैसे करती है चिन्ता क्रीड़ा।
जग है असार सुनती हूँ, मुझको सुख सार दिखाता ;
मेरी आँखों के आगे सुख का सागर लहराता।
कहते हैं, होती जाती ख़ाली जीवन की प्याली ;
पर मै उसमें पाती हूँ, प्रतिपल मदिरा मतवाली।
उत्साह, उमंग निरन्तर रहते मेरे जीवन में ,
उल्लास विजय का हँसता, मेरे मतवाले मन में।
आशा आलोकित करती, मेरे जीवन के प्रतिक्षण ;
हैं स्वर्णसूत्र से वलयित मेरी असफलता के घन।
सुखभरे सुनहले बादल रहते हैं मुझको घेरे,
विश्वास, प्रेम, साहस हैं जीवन के साथी मेरे।

सियाराम शरण गुप्त

(१)

ट—

टिल कंकड़ों की कर्कश रज, मल मल कर सारे तन में
कस निर्मम हृदय ने मुझको, बाँधा है इस बन्धन में
फाँसी-सी है पड़ी गले में, नीचे गिरता जाता हूँ
ार-बार इस अन्ध-कूप में, इधर-उधर टकराता हूँ।
पर नीचे तम ही तम है, बन्धन है अवलम्ब यहाँ।
ह भी नहीं समझ में आता, गिर कर मैं जा रहा कहाँ !!
ाँप रहा हूँ, भय के मारे, हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ने दुखमय जीवन से हा! किस प्रकार मैं पाऊँ त्राण ?
भी तरह हूँ विवश करूँ क्या, नहीं दीखता एक उपाय;
ह क्या! यह तो अगम नीर है, डूबा! अब डूबा मैं हाय !!
ावन! हाय! बचालो अब तो, तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
ा तुरन्त निमग्न नीर में, आर्त्तनाद करके तब तक।
र कहाँ वह गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं,
रववान हुआ हूँ सहसा, बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?
मैं ऊपर चढ़ा जा रहा, उज्वलतर जीवन लेकर;
से उऋण नहीं हो सकता, यह नवजीवन भी देकर।

(दुर्वादल

(२)

ाय—

ो सुमन देकर न मुझे जब, तुमने उसको फेंक दिया;
कर क्रुद्ध, हृदय अपना तब, मैंने तुमसे हटा लिया।

सोचा—मैं उपवन में जाकर, सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर ;
मैंने जल्दी चित्त लगाकर, कण्टक वेष्टन पार किया,
स्वर्ण सुमन देकर न मुझे जब, तुमने उसको फेंक दिया।

उपवन-भर के श्रेष्ठ सुमन सब, जाकर तोड़ लिये सहसा जब,
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब, हुआ विशेष कृतज्ञ हिया,
स्वर्ण सुमन देकर न मुझे जब, तुमने उसको फेंक दिया।

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(१)

विप्लव गायन—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव, नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप-पुण्य सद्सद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें-बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जायें
एक ओर कायरता काँपे गतानुगति विगलित हो जाये

गूढ़ विचारों की वह, अचल शिला विचलित हो जाये,
दूसरी और कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाये
क्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जायें,
भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
-दण्ड टूटे, उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये,
पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश !! हा महानाश !!!—की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये!

गान! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं;
हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से!

कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
तान गाती रहती है, कालकूट फणि की चिन्तामणि,
न-ज्योति लुप्त है—अहा! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
रही हैं प्रतिपल में—इस नाशक सम्भक्षण की लड़िया!
गचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तर-तर से!

दिल को मसल-मसल मेंहदी, रचता आया हूँ मैं यह देखो—
एक एक अङ्गुलि परिचालन में नाशक ताण्डव पेखो!
विश्व-मूर्त्ति! हट जाओ!! यह वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा;
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश मात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ, जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूँ;
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो, मृत्यु गीत के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तर-तर से।

(२)

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे?—

चलित चरणों की जगह अब, कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे?
युग युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरण शरण वे!

इधर देखा, उधर झाँका, मिल गए कुछ चपल लोचन,
मैं समझ बैठा कि मुझ को मिल गए सङ्कट-विमोचन;
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये।

प्राण के उच्छ्वास में मैं खींच लाया शूल कितने!
और इस निःश्वास में उड़-उड़ गए हैं फूल कितने!
दान में स्मृति-रूप-कंटक मिल गए हैं आज इतने—
कि उनके सुमनों के हुए हैं शूल ही नव संस्करण ये।

नेत्र विस्फारित किए, जल थल असीमाकाश में नित—
फिर रहा हूँ खोजता कुछ चीज़, मैं व्याकुल, प्रवञ्चित,

भाल रेखा पर हुई है चिर विफलता छाप अङ्कित,
विकल अन्वेषण-सुरति को कब करेंगे पिय वरण वे ?
दीप लघु मैं, तव अलख कर से समय-नद में प्रवाहित,
नित्य प्रति प्रतिकूलता के प्रबल झोंकों से प्रताड़ित;
टिमटिमाता बह रहा हूँ मैं जनम का ही निराश्रित;
दीप सम्पुट कब बनेंगी कर-अंगुलियाँ मन हरण वे ?
कौन जाने, यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया, कब जगाया ?
है पता इतना कि इसने आज तक प्रश्रय न पाया;
हैं बहाए जा रहे इसको प्रवाही उपकरण ये।
कँप रही है ज्योति, अब तो तुम इसे कर दो अनिंगित
तव निवास-स्थान में अब लौ लगे इसकी अशङ्कित;
सजन, ज्योतिर्मय करो निज पुञ्ज में इसको सुसंचित,
थाम दो अब तो ज़रा इस के अवश-से सन्तरण ये।

द्वारिका प्रसाद मिश्र

प्रण-विप्लव ! —

धिक्कारत टेरत जदपि, सत्य-शौर्य युयुधान,
टिकेउ न सरिसुत-शर-परिधि, पै एकहु धनुमान।
इत निज रथ पै भीर, स्वदल पलायित उत लखेउ।
यदुपति क्रोध-अधीर, कूदे सहसा त्यागि रथ॥

गर्जन-कम्पित शूर अशेषा, उठि गरजेउ जनु सुप्त मृगेशा।
तनु श्यामल जनु विमल सरोवर, बाहु विशाल मृणाल मनोहर।
रोष-दिनेश-रश्मि जनु पायी, विकसेउ चक्र-कमल कर आयी।
विद्युत सहस समर-महि द्योतित, लोल अनल जनु ज्वलित मण्डलित।
निरखि क्षुरान्त-तीक्ष्ण दुर्दर्शन, काल-दूत सम चक्र सुदर्शन।
भागे भीत म्लेच्छ अघ-राशी, जनु लखि सहस रश्मि तमराशी।
विचलित सकल पलायित कुरुजन, अचल एक रण शान्तनु-नन्दन।
तिन दिशि रौद्र-वदन यदुरायी, बढ़े क्रुद्ध पद धरणि कँपायी।

विद्युत-द्युति पट पल्लवित, नीरद द्युति तनु श्याम,
भरित पितामह भक्ति रस, भाषेउ करत प्रणाम।
"आवहु ! आवहु ! चक्रधर ! व्यक्त विभो ! भगवान !
बधहु स्वकर, भव-क्लेश हर ! देहु मुक्ति, यश-दान !"

चकित भीत इत पार्थ अधीरा, तजि रथ धाय गहे यदुवीरा।
करि बल पुनि पुनि रोकन चाहा, रुके न पै हरि रोष अथाहा।
कर्षत पृथा-सुतहु निज साथा, बढ़े भीष्म दिशि हठि यदुनाथा।
विकल विजय तब बाहु विहायी, विनय-वाणि पद प्रणत सुनायी।
"छमहु! छमहु ! मम मोह अशोभा, रोकहु जग क्षय क्षम यह क्षोभा।
बिनसहिं वरु पाण्डव रण माहीं, उचित नाथ-प्रण-विप्लव नाहीं।
नव दिन प्रभु ! मारेहि अपराधा, हती पितामह सैन्य अगाधा।
प्रभु-पद शपथ करत प्रण घोरा, करि हौं अब नित समर कठोरा।

सकत निखिल अवसादि मैं, अरि-कुल नाथ-प्रसाद,
विरमहु रच्छहु मोर यश, निज वचनन-मर्याद।"

लखि प्रिय सुहृद प्रणत निज चरणा,
विनय-द्रवित हरि अन्तःकरणा।
शपथ सुनत पुनि उर आश्वासन,
गलित रोष, मन प्रीत जनार्दन।
निरखि निवर्तित उत भगवाना,
सरिसुत, वदन-कमल कुँभिलाना।
अमृत—पात्र अधर लगि लायी,
पियत गयेउ जनु विधि ढरकायी!
ज्वलित भीष्म-उर शोक-कृशानू,
दिशि पश्चिम अस्तोन्मुख भानू।
इत कुरुपति, उत धर्म नरेशा,
रोकेउ समर निरखि दिन शेषा।
विजयी कुरुजन जदपि आजु रण,
कुण्ठित कण्ठ त कहुँ जय-निःस्वन।
हरि-भय नष्ट आत्म विश्वासा,
रणहि शेष जनु गत जय आशा।

गवने यहि विधि निज शिविर, कुरुजन साहस हीन,
धर्म नृपहु दिन-वृत्त लखि, इत धृति-रहित, मलीन।

(कृष्णायन, जयकांड दोहाः—६०-६४)

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(१)

व्यक्ति—

तुम एक अनल-कण हो केवल

अनकूल हवा लेकिन पाकर
छप्पर तक आ सकते उड़कर
जीवन की ज्योति जगा सकते
अम्बर में आग लगा सकते ;

ज्वाला प्रचंड फैला सकती है छोटी-सी चिनगारी भी।

तुम फूल नहीं हो, शूल सही,

गुलचीं उपवन में आये जो,
फूलों पर हाथ लगाये जो,
पैरों में चुभ क्षत कर सकते,
उँगली में उसकी गड़ सकते ;

तलवारें बजतीं जहाँ वहाँ आती काटों की बारी भी।

तुम कुछ भी नहीं, एक हिमकण,

माना तुम कुछ भी नहीं, मगर
चू सकते किसी सुमन उर पर,
हलका सा कम्पन ला सकते
मिटकर तो दर्द भगा सकते,

मरते-मरते कुछ कर जाती, नन्ही शबनम बेचारी भी।

(२)

कुरुक्षेत्र—

ईश जानें, देश का लज्जा-विषय,
तत्व है कोई कि केवल आवरण,
उस हलाहल सी कुटिल द्रोहाग्नि का
जो कि जलती आ रही चिरकाल से;
स्वार्थ-लोलुप सभ्यता के अग्रणि
नायकों के पेट में जठराग्नि सी।

विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में,
मूल हो सकता नहीं द्रोहाग्नि का ;
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलतीं लपटें विषैली, व्यक्तियों साँस से।

हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही
उपचार एक अमोघ है—
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का ?
लड़ना उसे पड़ता मगर।
अब जीतने के बाद भी,
रणभूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ;
वह सत्य जो है रो रहा इतिहास के अध्याय में,
विजयी पुरुष के नाम पर कीचड़ नयन की डालता।
उस सत्य के आघात से

है झन झना उठती शिराएँ प्राण की असाह्य-सी,
सहसा विपंची पर लगे कोई अपरिचित हाथ ज्यों।
वह तिलमिला उठता, मगर
है जानता इस चोट का उत्तर न उसके पास है।
सहसा हृदय को तोड़कर
कढ़ती प्रतिध्वनि प्राणगत अनिवार सत्याघात की—
"नर का बहाया रक्त, हे भगवान! मैंने क्या किया!"
लेकिन मनुज के प्राण, शायद, पत्थरों के हैं बने;
इस दंश का दुख भूलकर
होता समर आरूढ़ फिर;
फिर मारता, मरता,
विजय पाकर बहाता अश्रु है।

(*प्रथम सर्ग*)

(३)

अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला—

रूक्ष दोनों के वाह्य स्वरूप,
दृश्य पट दोनों के श्री हीन;
देखते एक तुम्ही वह रूप
जो कि दोनो में व्याप्त, विलीन,

ब्रह्म में जीव, वारि में बूँद,
जलद में जैसे अगणित चित्र।

ग्रहण करती निज सत्य-स्वरूप
तुम्हारे स्पर्शमात्र से धूल,
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल।

और यह शिला-खण्ड निर्जीव,
शाप से पाता सा उद्धार,
शिल्पि, हो जाता पाकर स्पर्श
एक पल में प्रतिमा साकार।

तुम्हारी साँसो का यह खेल,
जलद में बनते अगणित चित्र।

मृत्ति, प्रस्तर, मेघों का पुञ्ज
लिए मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आएगा इस ओर
पूर्ण करने कब मेरी चाह।

खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?
प्रगट होगी कब मूर्ति पवित्र ?
और मेरे नभ में किस रोज़
जलद विहरेंगे बनकर चित्र ?

शिल्पि, जो मुझमें व्याप्त विलिन,
किरण वह कब होगी साकार ?

(सामधेनी)

हरिवंश राय 'बच्चन'

(१)

गीत—

तू ने क्या सपना देखा है ?
पलक रोम पर बूँदें सुख की, हँसती-सी मुद्रा कुछ मुख की,
सोते में क्या तूने अपना, बिगड़ा भाग्य बना देखा है ?
तू ने क्या सपना देखा है ?
नभ में कर क्यों फैलाता है ? किसको भुज में भर लाता है ?
प्रथम बार सपने में तू ने, क्या कोई अपना देखा है ?
तू ने क्या सपना देखा है ?
मृग जल से ही ताप मिटाले, सपनों में ही कुछ रस पा ले,
मैंने तो तन मन का सपनों में भी तपना देखा है !
तू ने क्या सपना देखा है ?

(२)

तारक दल छिपता जाता है
कलियाँ खिलतीं, फूल बिखरते, मिल सुख-दुख के आँसू झरते,
जीवन और मरण दोनों का, राग विहङ्गम दल गाता है।
तारक दल छिपता जाता है।
इसे कहूँ मैं हास पवन का, या समझूँ उच्छ्वास पवन का ?
अवनि और अम्बर दोनों से, प्रात समीरण का नाता है।
तारक दल छिपता जाता है।

रवि ने अपना हाथ बढ़ाकर, नभ-दीपों का तेज लिया हर,
जग में उजियाला होता है; स्वप्नलोक में तम छाता है।
तारक दल छिपता जाता है।

(३)

अब मत मेरा निर्माण करो!
तुमने न बना मुझको पाया, युग-युग बीते, मैं घबराया;
भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!
इस चक्की पर खाते चक्कर, मेरा तन-मन-जीवन जर्जर;
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को, और न अब हैरान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!
कहने की सीमा होती है, सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!

आत्म-परिचय— (४)

मैं जग जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ;
कर दिया किसीने झंकृत जिनको छूकर,
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ।
मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ;
जग पूछ रहा उनको जो जग की गाते,
मैं अपने मनका गान किया करता हूँ।

मैं निज उरके उद्गार लिये फिरता हूँ,
मैं निज उरके उपहार लिये फिरता हूँ!
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ।

मैं जला हृदय में अग्नि रहा करता हूँ,
सुख-दुख, दोनों में मग्न रहा करता हूँ;
जग भव सागर तरनेको नाव बनाये,
मैं मन मौजों पर मस्त बहा करता हूँ।

मैं यौवन का उन्माद लिये फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिये फिरता हूँ,
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मै, हाय, किसी की याद लिये फिरता हूँ!

कर यत्न मिटे सब सत्य, किसीने जाना?
नादान वही है, हाय! जहाँ पर दाना?
फिर मूढ़ न क्या जग जो इसपर भी सीखे,
मै सीख रहा हूँ सीखा ज्ञान भुलाना।

मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूँ;
हों जिसपर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ।

मैं रोया, इसको तुम कहते हो गाना।
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छन्द बनाना।

क्यों कवि कहकर साहित्य मुझे अपनाये,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।
मैं दीवानों का वेष लिये फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिये फिरता हूँ;
जिसको सुनकर जग झूम झुके लहराये,
मैं मस्ती का सन्देश लिये फिरता हूँ।

रामेश्वरी देवी, 'चकोरी'

चकोरी की वेदना—

जिस रूप की राशि से प्रेम किया,
उससे ही मिली अवहेलना है;
जिसे देख के होती विदेह हूँ मैं,
वही दूसरे के रङ्ग में सना है।
वह चाह की आह को क्या समझे,
कि यह कैसी भयङ्कर वेदना है;
गुण अग्नि का जाने भला वह क्या,
जिस का तन ही हिम का बना है।

कितने दिनों पंथ निहारा सखे,
तुम जाने कहां किस रङ्ग में थे,
कुछ ही दिनों में दिखलाई दिये,
भरे ज्योति अलौकिक अङ्ग में थे।

तुम्हे पाने की लालसा से उड़ी ऊपर,
प्राण तुम्हारी उमङ्ग में थे;
चढ़ शृङ्ग से देखा तुम्हें पर हा!
तुम तो निशा के अभिशङ्ग में थे।

जब देखती हूँ नभ में तुम्हें तो,
रजनी के समीप ही पाती हूँ मैं;
करती तुम्हें प्यार परन्तु कभी,
तुम से प्रतिदान न पाती हूँ मैं।
उस राहु का विग्रह मेटने के लिए,
नित्य अंगार चबाती हूँ मैं,
तुम जानते भी नहीं होगे मुझे,
पर चन्द्र-चकोरी कहाती हूँ मैं।

उस श्यामाविभावरी में जब सृष्टि
मनोरम स्वप्न सँजो रही थी;
तम का प्रणयासब पी के वसुन्धरा,
राग भरी सुधि खो रही थी।
कुमुदावलि बैठी सरोवरों में,
जब ओस के मोती पिरो रही थी,
किसी डाल पै बैठी हुई तब मैं,
शशि! तेरे वियोग में रो रही थी।

किस भाँति बनाऊँ तुम्हें अपना,
प्रिय! कौन सा मंत्र सुनाऊँ तुम्हें;

किस अमृत से जल से अथवा,
किन आँसुओं से नहलाऊँ तुम्हें।
किस आह से कौन सी याचना से,
किस आग्रह से मैं बुलाऊँ तुम्हें।
किस त्याग से कौनसी साधना से,
कहो मेरे मयङ्क! मैं पाऊँ तुम्हें।

रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'

बन-फूल— (१)

फूल कांटों में खिला था, सेज पर मुरझा गया।
जगमगाया था उषा-सा कंटकों में वह सुमन,
स्पर्श से उसके तरंगित था सुरभिवाही पवन,
ले कपूरी पंखुरियों में फुल्ल मधु ऋतु का सपन,
फूल काँटों में खिला था सेज पर मुरझा गया।

प्रखर रवि का ताप, झंझा के असह झोके कठिन,
कर न पाये उस तरुण संघर्ष कामी को मलिन,
किन्तु झाड़ी से अलग हो रह न पाया एक दिन,
फूल काँटो में खिला था, सेज पर मुरझा गया।

जो अडिग रहता खड़ा, तूफ़ान में बरसात में,
टूट जाता है वही तारा शरद् की रात में,
मुक्त जीवन की प्रगति भी द्वन्द्व में संघात में,
फूल काँटों में खिला था, सेज पर मुरझा गया॥

(२)

सावन-भादों—

पूरब दिसि से घिरी बदरिया, फिर बरसेगी पीर घनेरी,
अलख अकूल अतल से निकलेगी तूफ़ानी तृष्णा मेरी,
फिर उमंग से उमंग उठे ये बागी साजन बड़े सलोने,
यह मेघों का रैन बसेरा आज न देगा जी भर रोने,
भूख भरी घड़ियाँ यह, नीले खेतों पर सावन का पानी—
आज पूर्णिमा में घिर आई कब की मीठी याद पुरानी।
उन रतनारी तरल अँखड़ियों में ले एक नमी तुम रानी,
मस्त कहाँ बैठी होगी झपकी सी प्यास लिये अनजानी—
रूप सजल उन्मन किरणों के आलम में कुछ लिये उदासी,
खोई मंज़िल के दीपक सी आज कहाँ जलती हो प्यासी ?
क्षुब्ध पवन जन हीन डगर जब, शिथिल वधू किस पार बटोही,
आज अयत्न कहाँ से आये, इस अश्रान्त जल में निर्मोही !
भींगे बनफूलों में बाँधूँ किस सुर से यह चंचल क्रन्दन ?
हास अश्रु के किस धन को पा सफल करूँ यह जलन निवेदन !
आज साँवली गहरी सन्-सन् रात कहाँ की लिए निशानी
दीन भिखारिन सी कहती है, 'तुम्हें न जाने दूंगी रानी।'
आज बावली वर्षा आई, खोल तपे अंगों के बन्धन,
पूरब दिसि से उठी बदरिया, आज मरण का लिए निमन्त्रण।
किसके कागज़ की नैया पर दुर्दिन का अभिशाप लगाया ?
किसके तिनकों की दुनिया में यह जनून का पर्व मचाया ?

आज अजीवन के तट पर यों किसने कवि फूँको का लाकर ?
किसने यों किशोर गायक की विष से भरी जवानी, आकर ;
झुलसी छाती पर खा-खा कर, रक्त पछाड़ें प्रतिपल हिलता
आज प्रलय से प्रीतम जागे, कब मुहुर्त्त अन्धड़ में मिलता ?
अतल वितल से जल प्रसिक्त केशों को ले फिर उठी चितेरी ;
पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

चलना हमारा काम है।

गति प्रबल पैरों में भरी, फिर क्यों रहूँ दर-दर खड़ा,
जब आज मेरे सामने, है रास्ता इतना बड़ा,
जब तक न मंजिल पा सकूँ तब तक न मुझे विराम है,
चलना हमारा काम है।

कुछ कह लिया, कुछ सुन लिया, कुछ बोझ अपना बँट गया,
अच्छा हुआ तुम मिल गईं, कुछ रास्ता ही कट गया ;
क्या राह में परिचय कहूँ, राही हमारा नाम है,
चलना हमारा काम है।

जीवन अपूर्ण लिए हुए, पाता कभी खोता कभी,
आशा निराशा से घिरा, हँसता कभी रोता कभी ;
गति-मति न हो अवरुद्ध, इसका ध्यान आठों याम है,
चलना हमारा काम है।

इस विशद विश्व प्रवाह में, किसको नहीं बहना पड़ा ?
सुख दुख हमारी ही तरह, किसको नहीं सहना पड़ा ?
फिर व्यर्थ क्यों कहता फिरूँ मुझ-पर विधाता बाम है !
चलना हमारा काम है।

मैं पूर्णता की खोज में, दर दर भटकता ही रहा,
प्रत्येक पग पर कुछ न कुछ, रोड़ा अटकता ही रहा,
हो निराशा क्यों मुझे ? जीवन इसी का नाम है,
चलना हमारा काम है।

कुछ साथ में चलते रहे, कुछ बीच ही से फिर गए;
पर गति न जीवन की रुकी, जो गिर गए सो गिर गए,
चलता रहे शाश्वत, उसी की सफलता अभिराम है।
चलना हमारा काम है।

मैं तो फ़क़त यह जानता, जो मिट गया वह जी गया ;
जो बन्द कर पलकें सहज, दो घूँट हँस कर पी गया,
जिसमें सुधा मिश्रित गरल, वह साक़िया का जाम है,
चलना हमारा काम है।

आरसी प्रसाद सिंह

शतदल—

प्रमुदित कर पद्मों के प्राण,
करता कलियों को मधुदान ;
चढ़ विहगों की स्वर लहरी पर आता है जब स्वर्ण विहान,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन, यह तो तेरी ही मुस्कान !

भाँति-भाँति के धर वर वेश,
अनुरञ्जित कर गगन-प्रदेश,
लहराते जब काले-काले बादल-दल निर्बाध, अशेष,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन, यह तो तेरे ही घने केश !

शीतल, कोमल किरणों का वन,
खोल अमरपुर का वातायन,
उझक झाँकता है जब हिमकर, पुलकित कर बसुधा के तन-मन,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन, यह तो तेरा ही आनन !

उतर हिमालय से विस्फीत
शैल शिलाओं पर श्री-पीत,
गुञ्जित करती तानों से जब निर्झरिणी वन-प्रान्त पुनीत,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन, यह तो तेरा ही संगीत !

चूम शून्य के अधर-प्रवाल
ताल-ताल पर हो बेहाल,
नर्तन करती रत्नाकर की तरल तरङ्गावलि उत्ताल,
मैं कह उठता हूँ मन ही मन, यह तेरा ही हृदय विशाल !

सुधीन्द्र

मेरे हार—

फूल मेरे हार हैं, अंगार हैं, शृंगार मेरे।

फूल से उत्पन्न हूँ मैं, आग से है खेल मेरा,
जी रहा हूँ मैं गरल पी, है अमृत से मेल मेरा;
है तुझे तो एक सुख-दुख मैं प्रलय की ओर उन्मुख,
फिर कृपा का भार कोई, क्या सकेगा झेल मेरा?

स्पर्श हैं निर्माण मेरे, ध्वंस किन्तु प्रहार मेरे,
फूल मेरे हार हैं, अंगार हैं शृंगार मेरे!

बिजलियाँ चिनगारियाँ हैं प्राण के संघर्ष पथ की,
गर्जना है बादलों का घोष, मेरे क्रान्ति रथ की;
है अजर तन, है अमर मन, है चिरन्तन और जीवन,
देखना है अन्त, देखी, रंगशाला सृष्टि अथ की,

तोड़ अपने कण्ठ से नक्षत्र हैं मैंने बिखेरे,
फूल मेरे हार हैं, अंगार हैं शृंगार मेरे!

बाँध लेंगी क्या मुझे ये क्रोड़ बीच मृणाल बाँहें?
रोक लेंगी पुतलियों से, झाँकती क्या मूक चाहें?
है रहा ब्रह्माण्ड आँगन, क्या रुकेगा फिर यहाँ तन?
क्या जला लेंगी मुझे ये, मृत्तिका की क्षीण आहें?

सो सकेंगे क्या भला ये देह कारागार मेरे?
फूल मेरे हार है, अंगार है; शृंगार मेरे!

दे रहे मुझको विजय क्या, विजय का तो मैं प्रदाता,
चाहिए मुझको विभव क्या, मैं विभव का भी विधाता,
शूल जग के फूल मुझको, रत्न जग के धूल मुझको,
मृत्यु मेरी सहचरी है, जन्म से है नित्य नाता;
भाग्य लेखक सृष्टि के तो हैं रहे उद्गार मेरे,
फूल मेरे हार है, अंगार है श्रृंगार मेरे!

सोहनलाल द्विवदी

सेगाँव का सन्त—

विभु का पावन आदेश लिए,
देवों का अनुपम वेश लिए,
यह कौन चला जाता पथ पर
नव युग का नव सन्देश लिये?

युग-युग का घन तम है भगता
प्राची में नव प्रकाश जगता
एशिया खण्ड की दिव्य भूमि
शोभित है दिव्य प्रवेश लिए
यह कौन चला जाता पथ पर
नव युग का नव सन्देश लिये?

पग-पग पर जगमग उजियाली
वन-वन लहराती हरियाली ;
करुणावतार फिर क्या आया,
करुणाका दान अशेष लिये ?
यह कौन चला जाता पथ पर,
नव युग का नव सन्देश लिये ?

क्या ग्राम-ग्राम, क्या नगर-नगर,
नवजीवन फैला डगर-डगर ;
ये कोटि-कोटि चल पड़े किधर ?
नव यौवन का आवेश लिये।
यह कौन चला जाता पथ पर
नव युग का नव सन्देश लिये ?

किसने स्वतन्त्रता की आगी,
पग-पग मग-मग में सुलगा दी ?
नस-नस में धधक उठी ज्वाला,
मर मिटने का उन्मेष लिए,
यह कौन चला जाता पथ पर,
नव युग का नव सन्देश लिये ?

साम्राज्यवाद के दुर्ग ढहे,
शासन सत्ता के गर्व बहे ;
जन सत्ता है जग पड़ी आज
किसका वरदान विशेष लिए ?

यह कौन चला जाता पथ पर
नव युग का नव सन्देश लिये ?

रच आत्माहुति का महायज्ञ,
प्रण पूर्ण कर रहा कौन प्रज्ञ ?
फहरा अम्बर में सत्यकेतु
दिशि-दिशि के छोर प्रवेश लिये,
यह कौन चला जाता पथ पर
नव युग का नव सन्देश लिये ?

वह मलय पवन, वह है आंधी,
वह मनमोहन, वह है गांधी,
झुकता हिमाद्रि जिसके पदतल
अपना गौरव निःशेष लिये।
वह आज चला जाता पथ पर,
नव युग का नव सन्देश लिये।

कवि-परिचय

विद्यापति

सम्वत् १४०७-१४९६ वि०

विद्यापति मिथिला के राजा शिव सिंह के प्रियपात्र थे। षड् भाषाके विद्वान होनेके साथ ही ये विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थे।

विद्यापति का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जिस समय राधा-कृष्ण की भक्ति धारा प्रवाहित हो रही थी। इसी युग में गीत गोविन्द की माधुर्यपूर्ण रचना जयदेव ने संस्कृत में की थी। काव्य में एक परिपाटी सी थी, लौकिक रूप में अलौकिक प्रेम का प्रचार करना। विद्यापति सम्भवतः प्रथम कवि हैं जिन्होंने लोक भाषा में मुक्तक काव्य की रचना की। इनकी भाषा बड़ी ही सरस एवं सरल थी। इनके पदोंमें एक स्वच्छन्द गीतात्मकता है एवं शब्दोंमें माधुर्य तथा कोमलता है। पदों में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति ने अभिव्यंजनाको मुखरित कर दिया है। जयदेवके आदर्श का यद्यपि इन्होंने अनुसरण किया, किन्तु जहाँ जयदेवकी रचना सीमित रह गयी पण्डितों और विद्वानों तक ही, वहीं लोक भाषा एवं लोक जीवन के निकट होने के कारण इनकी पदावली लोकप्रिय हो उठी। आज भी त्योहार, उत्सव, विवाह आदिके अवसर पर मिथिला की अमराइयों से मैथिल कोकिल का स्वर गुंजरित होता है।

कबीर

सम्वत् १४५५-१५७५ वि०

कबीर अपने युग की विषमताओं से उद्भूत एक विलक्षण प्रतिक्रिया थे। अज्ञात कुलशीलजात शिशु ने एक निम्नवर्गीय मुसलमान परिवार द्वारा प्रतिपालित हो, काशी जैसे विविध धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विचरण कर, रूढ़ियों को तोड़ फेंकने की शक्ति ले, विद्वानों – शास्त्रज्ञों—को अपनी निरक्षर विचक्षणता से क्षीणप्रभ कर डाला। मन्दिर-मस्जिदकी भीतों में उनका ज्ञान अवरुद्ध न था। नैसर्गिक जलधारा की भाँति उनकी विचार-धारा में प्रत्येक व्यक्ति—जाति-पाँति, धर्म एवं वर्ग विहीन हो—उसमें निमज्जन करने का अधिकारी था, आडम्बररहित, सरल, अति सरल शब्दों में गूढ़ातिगूढ़ भावों को हृदय तक पहुँचाने की विशेषता कबीर की अपनी ही थी। काव्य पारखियों को इनकी भाषा अपरिमार्जित भले ही प्रतीत हो, किन्तु भाव क्षेत्र की स्वाभाविक एवं इनकी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण शक्ति विरलों ही में मिलती है।

कबीर की वाणी चार प्रकार से प्रस्तुत की गई है :—

सबद—में उन गूढ़ एवं मूल तत्वों का विवेचन किया गया है जिन्हें साधक को अपनी साधना में रत होने के पूर्व हृदयङ्गम कर लेना चाहिए।

रमैनी—इस कोटि की उक्ति में आध्यात्म-तत्व का विवेचन है। 'राम' शब्द से प्रसूत रमैनी में निर्गुणरूप में सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान राम—ब्रह्म—की विवेचना की गई है।

साखी—साखियों की रचना अधिकतर दोहों में ही हुई है।

इनमें समय-समय पर व्यक्ति एवं समाज की विवध जटिल समस्याओं को सुलझाते हुए कुछ सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं। 'साखी' शब्द 'साक्षी' से बना है अर्थात् वे सत्य सिद्धान्त जो बुद्धि की कसौटी पर सत्य उतरते हैं। इनमें गम्भीर चिन्तन के विषय भी बड़ी ही सरलता के साथ उपस्थित किये गए हैं। दैनन्दिन जीवन में सम्पर्क में आनेवाली साधारण से साधारण वस्तुओं से सीधे-सादे ढंग से उदाहरण उपस्थित करते हुए चेतावनी दी गई है, साथ ही संकेत है उचित मार्ग अवलम्बन करने का।

पद—इनमें सच्ची अनुभूति तथा ज्ञान है। भावोद्रेकमें प्रवाहित कबीर के इन पदों में गीतात्मकता का प्राधान्य है।

नन्ददास

सम्वत् १५९०-१६४० वि०

गोसाँई विट्ठलनाथ जी द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' के सर्व प्रमुख कवि थे सूरदास। इनके बाद ही स्थान आता है नन्ददास का। ब्रजभाषा के काव्य में भी नन्ददास का नाम सूरदास के पश्चात आता है। इनकी रचना बड़ी मधुर और सरल है। इनकी विशेषता थी कि ये भावों की स्पष्ट, सरस एवं सरल अभिव्यंजना के लिये बहुत ही कुशलतापूर्वक शब्दों का चयन करते थे। इस कारण इनकी रचनाओं में ध्वनि तथा भाव कुछ इतने सन्तुलन के साथ हैं कि स्वीकार करना पड़ता

है कि और 'कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। प्रेम की पराकाष्ठा ही इनकी कविता के माधुर्य की प्रेरणा है। स्वाभाविक कथन या वर्णन में सभी स्थल मनोरम हैं। सूरदास ने स्वाभाविक चलती हुई ब्रजभाषा को साधारणतः अपनाया किन्तु नन्ददास ने अपनी रचनाओं में अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पद-विन्यास आदि का सफल उपयोग किया है।

इनके 'भ्रमरगीत' में भागवत् के दशमस्कन्ध के 'भ्रमरगीत' की कथा है। सूरदास ने भ्रमरगीत लिखा, किन्तु नन्ददास ने संक्षेप ही में मूल कथा तथा सूरदास की कृति—दोनों को—मात कर दिया। श्रीमद्भागवत की गोपियाँ निपट भोली-भाली हैं, ऊधव के सामने बोलना कठिन है। सूरदास की गोपिकाओं के सम्मुख ऊधव अवाक् से हो जाते हैं, उनकी फटकार से दार्शनिक ऊधव घबराते से जान पड़ते हैं; किन्तु नन्ददास की गोपिकाएँ न तो प्रेम विह्वला आकुल ललनाएँ हैं और न वाक्पटु मुखरा। ऊधव के तर्कों को शान्तिपूर्वक सुनकर तर्कपूर्ण उत्तर देती हैं। न्याय, भक्ति, ज्ञान, आदि विवध शास्त्रों में पारङ्गत सी प्रतीत होती हैं।

नन्ददास के रोला एवं दोहा मिश्रित छन्दों ने 'भ्रमरगीत' में और भी विशेषता उत्पन्न कर दिया है। अन्तिम एक छोटा सा वाक्य प्रत्येक पद में जुड़ा है, जो बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। उसके द्वारा एक नाटकीय चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

'रास पञ्चाध्यायी' में कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-

युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तारपूर्वक वर्णन है। इनके रोला छन्दों में ये वर्णन अतीव चमत्कार पूर्ण हैं। अलङ्कार और उपमाओं की छटा इसमें खूब निखरी है।

सूरदास

सम्वत् १५४०-१६२०

ब्रजमण्डल में गोवर्धन पर्वत स्थित देवालय में अष्टछाप की आठ वीणाएँ मधुर स्वर से बज उठी थीं। उनमें से सूरकी वीणा से मधुरतम रागिणी निःसृत हुई थी। बालकृष्ण की मधुर लीलाएँ, यशोदा की वात्सल्यसिक्त उक्तियाँ, कठिन कसौटी विरह पर कसा गया गोपिकाओं का दुर्लभ प्रेम, संयोग-वियोग श्रृंगारकी छटाएँ, सूर के ही पदोंमें केवल देखने को मिलती हैं। इनके पदों में काव्य एवं संगीत का अपूर्व सम्मिश्रण है। भाव एवं भक्ति में सूर का ही सख्यभाव का दावा रहा है—

"बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहिं।
हिरदय तें जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि॥"

मीरा

सम्वत् १५५५-१५६०-१६२०-१६३०

राजस्थान के प्राङ्गण में मेवाड़ कोकिला मीरा का स्वर आज भी प्रतिध्वनित हो रहा है। उस प्रतिध्वनि के साथ कभी-कभी गूँज आती है—"रास पूनो जन्म लिन्हो राधिका अवतरी"—"म्हारो जणम जणम रो साथी"; राधा का

अनन्य प्रेम देखना हो तो मीरा को देखें। कितनी प्रताड़ना, कितनी लांछना सही, किन्तु कृष्ण-प्रेम में तनिक भी अन्तर न आया। दिन दूना, रात चौगुना प्रेम बढ़ता ही गया और अन्त में अपने प्रिय में ही समाकर प्रेमकी दीवानीके दरदका अन्त हो गया। कान्त वा माधुर्य भाव की भक्ति का अप्रतिम उदाहरण मीरा हैं। राजस्थानी भाषा में सरल शब्दों में प्रेम मानो मूर्तिमन्त हो आ खड़ा होता है। संगीत के नूपुर के साथ मीरा का यह पद मीरा के साथ ही आज भी नृत्य कर उठता है—

"पग बाँध घूँघरयाँ नाच्याँ री"—

तुलसीदास

सम्वत् १५८९-१६८०

हिन्दी साहित्य का वह मध्यकाल था। जीवन की विषमताओं के प्रचण्ड आतप में व्यक्ति, समाज, धर्म, तप्त हो रहा था। शीतल प्रलेप की उत्कट अपेक्षा थी। ऐसे ही क्षणों में भारतीय जीवनाकाश के अवध अञ्चल में शुभ्र, स्निग्ध, शीतल प्रकाश विकीर्ण करता हुआ 'तुलसी शशि' का उदय हुआ। मानस (रामचरित मानस) में अवगाहन कर तुलसी के सु-भाव युक्त पदों की सुगन्धिसे जीवन परिपूरित हो उठा, जन-समाज ने तृप्ति की साँस ली। माता, पिता, भाई, बन्धु, राजा प्रजा, समाज, जीवन, हृदय, बुद्धि, धर्म, कर्म, दर्शन, ज्ञान, भक्ति काव्य, और कला—सबने चैतन्य लाभ किया। शिवद्रोही विष्णु

के कोप भाजन तथा विष्णुद्रोही शिव के कोप भाजन बनकर रहने का साहस न कर सके। अपूर्व समन्वय एवं सन्तुलित वातावरण की सृष्टि केवल तुलसीदास ही कर सके।

रहीम

सम्वत् १६१०-१६८२

काव्य एवं जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। जीवन सरोवरके जलसे सिंचित हो, अनुभूति रससे संचरित हो, काव्य कमलिनी अभिव्यक्ति की प्रफुल्लता पा, भावों का सौरभ बिखेरती है। अतः जिस काव्यकारकी जीवनानुभूति जितनी प्रचुर, तीव्र और यथार्थ होगी, उतना ही उसका काव्य स्वाभाविकतासे युक्त और मार्मिक होगा। रहीम जीवन क्षेत्रके अतुलनीय अनुभवी जन थे। शेक्सपीयरका काव्य-वैशिष्ठ्य जीवन-पक्ष प्रधान था। उसकी कृतियों में कला पक्षका स्थान द्वितीय ही मानना उचित होगा। तुलसी और कालीदास का क्षेत्र शेक्सपियरसे नितान्त भिन्न रहा है; उनमें काव्यकी प्रधानता रही है। रहीमकी रचनाओं में जीवन पक्ष के प्राधान्य की तुलना शेक्सपियर के साथ करना अनुचित न होगा। जीवन के जितने उत्थान और पतन सम्भव हो सकते हैं रहीमके स्वयंके जीवनके अनुभव थे। अकबर बादशाह के नवरत्नों का एक उज्वल रत्न वह भाग्यदोला पर बैठकर कितनी ही बार ऐश्वर्य एवं राजकीय प्रताप के चरम शिखर पर और राजकीय प्रकोपसे परिपूर्ण कारावास, निर्वासन एवं उपेक्षा से परिपूरित जीवन के मध्य से गुज़रा है। तब

भला ऐसे काव्यकार की रचनाओं में सच्ची जीवनानुभूति क्यों न हो ? संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के विद्वान, हिन्दी के सफल कवि, सहृदय भावुक रहीम की मित्रता तुलसीदास के साथ प्रसिद्ध है। प्रख्यात है कि पत्र व्यवहार में रहीम द्वारा प्रयुक्त बरवै छन्द ने गोस्वामी जी को इतना आकृष्ट किया कि गोस्वामी जी ने बरवै रामायण की रचना कर डाली। अबदुर्रहीम खानखाना की रचनाओं में जीवन दर्शन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

केशवदास

सम्वत् १६१२-१६७४

रीतिकाल के कवियों में आचार्य केशव प्रधान पण्डित माने जाते हैं। ये ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्र जीत सिंह की सभा में थे। वहाँ इनका बड़ा सम्मान था। इनके आविर्भाव काल से पूर्व ही कुछ कवियों का ध्यान रस अलङ्कार आदि काव्याङ्गों के निरूपण की ओर आकृष्ट हो चुका था। इनके समय तक हिन्दी में इस दिशा में काव्य रचना भी प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी।

ये रीतिवादी कवि थे। अलङ्कार प्रधान संस्कृत साहित्य का इन पर गहन प्रभाव पड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि "लक्ष्य ग्रंथों के उपरान्त लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे, अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य चर्चा का प्रचार भाषा में पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनकी स्वाभाविक थी।"

केशवदास काव्य की रीतियों का शास्त्रोक्त विवेचन और निरूपण आदि करने के कारण आचार्य कहलाए। शास्त्रीय पद्धति आदि का विवेचन इन्होंने भाषा में किया, इस प्रकार इनके द्वारा आगे आनेवाले रीति ग्रन्थकारों का मार्ग प्रदर्शन हुआ। ये हमें केवल आचार्य के रूप में नहीं मिलते हैं, वरन् कवि के रूप में भी वे हमारे सामने आते हैं। कवि के रूप में काव्य में वाह्यकला की दृष्टि से उत्कृष्टता लाने के लिये जितने कृत्रिम (काव्यगत) साधन हो सकते हैं उन सबके प्रयोगका प्रयत्न करते से दीखते हैं। वैभव विलास का जितना श्रेष्ठ वर्णन केशवदास ने किया है उतना हिन्दी के अन्य किसी कवि के द्वारा सम्भव न हो सका।

इनकी रचना में 'रस' की अपेक्षा अलङ्कार का पुट अत्य-धिक मात्रा में पाया जाता है तथा काव्योचित नैसर्गिकता का अभाव सा बोध होता है। कविताओं में कहीं-कहीं परिश्रम-पूर्ण प्रयास परिलक्षित होता है। इनमें चमत्कारपूर्ण वर्णन तो मिलते हैं, किन्तु सजीवता का अभाव रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में बाधक सा प्रतीत होने लगता है।

आचार्य केशवदास ने व्रजभाषा में रचना की, किन्तु श्लेषादि अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण इन्हें संस्कृत पदावली का आश्रय अधिक लेना पड़ा है।

इनकी रचित 'कवि प्रिया' तथा 'रसिक प्रिया' में काव्य के समस्त विविध अंगों का विधिवत् निरूपण है। 'रामचन्द्रिका

राम सम्बन्धी प्रबन्ध काव्य है, इसमें सम्वाद बहुत सुन्दर बन पड़े हैं तथा विभिन्न छन्दों तथा अलङ्कारों से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त केशवदास ने और भी चार ग्रन्थों की रचना की है—वीरसिंह देव चरित्र, विज्ञान गीता, रतन बावनी और जहांगीर जसचन्द्रिका।

रसखान

सम्वत् १६१५-१६८५

रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इनके वास्तविक नाम का ठीक-ठीक पता नहीं लग सका।

आरम्भ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। लौकिक प्रेम के प्रति बड़ी आसक्ति थी। कहा जाता है कि एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फ़ारसी अनुवाद पढ़ रहे थे, उसमें गोपियों के अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हें ध्यान हुआ कि क्यों न उसी से प्रेम किया जाए जिससे गोपियाँ सुध-बुध खो, प्रेम करती थीं।

"तोरि मानिनी तें हियों, फोरि मानिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान॥"

—प्रेम बाटिका के इस दोहे से भी उपर्युक्त कथन पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

घर-बार छोड़, श्रीकृष्ण को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते रसखान गोकुल आए। इनकी विह्वलता, अनुराग तथा प्रेम की मस्ती देखकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने धर्म या जाति का विचार न कर इन्हें दीक्षा दी और शिष्य मण्डली में मिला लिया।

श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरंजित हो जाने पर रसखान की सांसारिक प्रेम या रूप पिपासा भगवद्भक्तिमें परिणत हुई। कृष्ण भक्ति में सच्चे प्रेम के ऐसे उद्गार इनकी रचनाओं से निकले कि 'रसखान' शब्द प्रेम का उपमान हो गया।

रसखान की रचनाएँ परिमाण में कम हैं किन्तु हैं प्रेमियों के अन्तस्थल को स्पर्श करने वाली। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। (१) प्रेम बाटिका (दोहे) (२) सुजान रसखान (कवित्त-सवैये)। इन रचनाओं की विशेषता है कि "अन्य कृष्णभक्तों की भाँति इन्होंने गीतकाव्य का आश्रय न लेकर कवित्त सवैयों में अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है।"

रसखान की भाषा में ब्रजभाषा का स्वाभाविक रूप मिलता है। भाषा आडम्बरशून्य, चलती और सरस है। "अनुप्रास की सुन्दर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफ़ाई कहीं नहीं जाने पाई है।" हृदय के भावों की बड़ी ही सफलता के साथ अभिव्यक्ति हुई है। श्रीकृष्ण के लीला पक्ष को लेकर रसखान ने बड़ी सरस रचनाएं की हैं।

सेनापति

सम्वत् १६४६—(?)

सेनापति अनूपशहर के रहने वाले थे। इनका जन्मकाल सम्वत् १६४६ के आसपास माना जाता है, मृत्यु तिथि निश्चित नहीं है।

सेनापति शृंगारिक कवि थे। इन्होंने हिन्दी साहित्य को

ऋतु वर्णन द्वारा अत्यन्त ही समृद्ध किया है। रीति परम्परा के कवियों की विशेषता थी काव्यगत रीतियों के द्वारा श्रृंगारपूर्ण वर्णन करना। सेनापति ने इस परम्परा में रहते हुए भी प्रकृति निरीक्षण में बड़ी कुशलता का परिचय दिया है।

ये अपने समय के बड़े सहृदय, भावुक तथा निपुण कवि थे। इनका पदविन्यास ललित है। अनुप्रासों का निर्वाह और यमक का चमत्कार इनकी कविताओं में अच्छा हुआ है। इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और रचना अत्यन्त प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है। भावुकता के साथ चमत्कार का सन्तुलित सम्मिश्रण इनकी कविताओं में मिलता है। भाषा पर अच्छा अधिकार जान पड़ता है। अनुप्रास एवं यमक की प्रचुरता रहने पर भी भद्दी कृत्रिमता इनकी कविता में आने नहीं पाई और न ब्रजभाषा की मधुरता ही नष्ट हुई।

इनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं—(१) काव्य कल्पद्रुम, (२) कवित्तरत्नाकर—जो सम्वत् १७०६ में पूर्ण हुआ।

बिहारीलाल

सम्वत् १६६०-१७२०

कविवर बिहारीलालका जन्म ग्वालियरके बसुवा गोविन्दपुर गाँव में सं० १६६० के लगभग माना जाता है। यह सूचना मिलती है कि इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में बीती और तरुण अवस्था में ये अपनी सुसराल मथुरा में आ रहे। मथुरा से ये जयपुर के तत्कालीन महाराज मिर्ज़ा राजा

जयसिंह के दरबार में आये।

बिहारी रचित 'सतसई' ही इनकी एक मात्र कृति है, किन्तु यही उनकी कीर्त्ति का आधार है। इसकी रचना के सम्बन्ध की घटना बड़ी मनोरंजक है।

ऐसा कहा जाता है कि जब ये जयपुर पहुँचे तब महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने तल्लीन थे कि वे राजकाज के प्रबन्ध के लिए दरबार में आते ही न थे। दरबारी चिन्तित हुए। आपसमें सरदारों ने परामर्श की और बिहारी ने किसी प्रकार महाराज के पास निम्नलिखित दोहा भिजवाया।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल।।"

तीर निशाने पर लगा—रसिक हृदय महाराज फड़क उठे। कर्त्तव्यका बोध हो गया, दरबारमें पूर्ववत् आने लगे। बिहारीका मान सम्मान बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को आदेश दिया कि वे इसी प्रकार के सरस दोहों की रचना करें—प्रत्येक दोहे के लिये उन्हें एक-एक अशर्फ़ी पुरस्कार स्वरूप मिलेगी। बिहारी की सतसई की रचना इस प्रकार हुई।

इनकी सतसई के सभी दोहे मुक्तक हैं। मौलिक कविता में जो गुण होने चाहिए वे बिहारी की रचना में चरम उत्कर्ष पर पाये जाते हैं। इनके छोटे-छोटे दोहे मानों कवि में कल्पना की अपूर्व समाहार शक्ति तथा भाषा की समास शक्ति के परिचायक हैं। दो पंक्तियों में भावों को ऐसी कुशलता से

रक्खा है मानो गागर में सागर है। श्रृंगार ग्रंथों में जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ है, उतना और किसी का नहीं।

बिहारी मुख्यतः श्रृंगार रस के कवि थे। राज्याश्रय, तत्कालीन दरबारी वातावरण तथा महाराज के आदेश के कारण इस रस का अधिक पुट रहना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। फिर भी, उनके बहुत से दोहे नीति सम्बन्धी हैं। सतसई के दोहों में बिहारी की अपनी विलक्षण काव्य प्रतिभा एवं सूक्ष्म-पर्यवेक्षण का परिचय प्राप्त होता है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। शब्दों को तोड़-मड़ोर कर विकृत करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं थी। कहीं-कहीं बुन्देलखण्डी और फ़ारसी के शब्दों का मेल इनकी भाषा में अवश्य दिखाई पड़ता है, किन्तु है वह मँजी हुई, जिसमें शब्द नपे-तुले हैं।

भूषण

सम्वत् १६७०-१७७२

भूषण का जन्म कानपुर (उत्तर प्रदेश) के तिकवांपुर ग्राम में हुआ था। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्रने इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये 'भूषण' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। इनके असली नाम का पता नहीं चलता।

ये कई राजाओं के यहाँ रहे, किन्तु इनका मन कहीं भी नहीं लगा। अन्त में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता,

छत्रपति शिवाजी मिले। शिवाजी भूषण का बड़ा मान करते थे। भूषण ने इनको अपने वीरकाव्य का नायक बनाया। ओरछा नरेश महाराज छत्रसाल भी भूषण का बहुत आदर करते थे। कहा जाता है कि भूषण की पालकी में छत्रसाल ने अपना कन्धा लगाया था। भूषण को महाराज छत्रसाल में भी वे गुण मिले जिनके कारण वे छत्रपति शिवाजी को आदर्श नायक मानते थे। इसी कारण इन्होंने छत्रसाल दशक की रचना की।

भूषण का समय रीतिकाल का युग था। भारत के उस युग में जातीयता या राष्ट्रीयता का गौरव मुग़ल दरबार के सामने नत-सा हो रहा था। वीरता के नाम पर अत्याचार, पारस्परिक द्वेष था। विलासपूर्ण दरबारी वातावरण था। कवियों का झुकाव केलि-क्रीड़ा एवं राज्य-वैभव वर्णन की ओर था। काव्य में श्रृंगार रस की प्रधानता थी। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति के निमित्त उनके प्रताप अथवा शौर्य्य के प्रसंग में वीररस-पूर्ण वर्णन किया है, किन्तु उनका महत्व शुष्क प्रथापालन तक ही है, साहित्यिक महत्व कुछ भी नहीं। भूषण की रचनाएं ऐसी रचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं। भूषण में आत्म-सम्मान एवं राष्ट्रीयता की भावना बहुत ही अधिक थी। संभवतः यही कारण रहा होगा कि वे बहुत समय तक मनोनुकूल आश्रयदाता न पा सके हों।

भूषण अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। उन्होंने अपने काव्य का विषय ऐसे नायकों की कृति को चुना, जो धर्म तथा न्याय परायण, स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के पुजारी और अपने समय के प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा मुगल अत्याचार से पीड़ित एवं जर्जरित जनता के हृदय में थी। इसी कारण भूषण की रचनाओं के वीररस-पूर्ण उद्गार जनता के उद्गार बने और भूषण की कविता जनता की कविता बनकर उन्हीं की सम्पत्ति बन गई।

भूषण वीर रसके कवि थे। इनको कविताएँ ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं। देशकी दीन दशा ही उनकी सच्ची अनुभूति थी। आँखों के सामने वास्तविक रूप में घटनाओं को घटते देख उनके जो भी उद्गार निकले वे अपने नायकों (शिवाजी छत्रसाल) के कृत्योंका आधार पर ओजपूर्ण हो गये। रीतिकाल के कवि होने के कारण भूषण की रचनाओं में चमत्कार उत्पन्न करने के उद्देश्य से काव्य में यमक, अनुप्रास, व्याजस्तुति आदि अनेकों अर्थालंकार एवं शब्दालंकार का समावेश पाया जाता है।

भूषण की भाषा मिश्रित है। ब्रज, बुन्देलखण्डी के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी के शब्द तथा ओज लाने के हेतु प्राकृत-अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

इन्होंने शब्दों को जैसा चाहा वैसा रूप दिया है, किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता उन्होंने वीर रस की कविताओं में ही की है।

भूषण के तीन ग्रन्थ मिलते हैं। शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक। शिवराज भूषण में अलंकार निरूपण है, शिवाबावनी भाव प्रधान है और छत्रसाल दशक में महाराज छत्रसाल के कृतित्व पर वीर रस पूर्ण कविताएं हैं।

देव

सम्वत् १७३०-(?)

देव इटावा (उत्तर प्रदेश) के रहने वाले थे। इनका वास्तविक नाम देवदत्त था। इनका जीवन वृतान्त विशेष उपलब्ध नहीं है। ये कई राजाओं और रइसों के यहाँ रहे, किन्तु इनका मन कहीं भी लगा नहीं। इसका कारण सम्भवतः इनकी प्रकृति की विचित्रता हो अथवा इनकी कविता के साथ उस काल का असामंजस्य। इन्होंने औरंगज़ेब के पुत्र काव्य प्रेमी आज़मशाह को अपनी रचना 'भाव विलास' तथा 'अष्टयाम' सुनाई। ये दोनों ही ग्रन्थ शृंगार रस में अनूठे हैं।

इन्होंने भ्रमण काफ़ी किया था। पर्यटनके अनुभवोंका उपयोग इन्होंने अपने 'जातिविलास' नामक ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न देशों की जातियों का तथा स्त्रियों का वर्णन है। पर्याप्त पर्यटनके उपरान्त इन्हें अपने मनोनुकूल आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले, जिनके नाम पर इन्होंने सं० १७८३ 'रस विलास' की रचना की।

देवके कई ग्रंथ ऐसे भी उपलब्ध हैं जिनमें विरागकी भावना मिलती है। सम्भवतः बहुत समय तक अपनी कविता के प्रति

लोगों की उदासीनता एवं आश्रयदाताओं के अभाव के कारण इन्होंने इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना की हो। देवभार्या प्रपंच नाटक, वैराग्य शतक, तत्वदर्शन पचीसी एवं नीतिशतक आदि इस प्रकार के ग्रन्थ हैं।

रीतिकालीन कवियों में शायद देव ने सबसे अधिक ग्रन्थ रचना की है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने ७२ ग्रन्थों की रचना की, किन्तु किसी-किसी सूची में केवल ५२ ही का उल्लेख मिलता है।

देव में कवित्वशक्ति और मौलिकता खूब थी। देव की कविता शुद्ध ब्रजभाषा में है। इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। इनकी कविता में तीनों गुण (ओज, प्रसाद, माधुर्य) हैं। अनुप्रास और यमक का प्रयोग अधिक किया गया है। इन्होंने शब्दों को अत्यधिक तोड़ा है। कहीं-कहीं तो शब्द व्यय अधिक है और अर्थ अल्प ही। इसी कारण इनके पद्य कुछ जटिल-से हो गए हैं, किन्तु जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमें बाधा कम पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका-सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। निःसन्देह महाकवि देव एक प्रगल्भ प्रतिभासम्पन्न कवि थे।

—o—

घन-आनन्द

सम्वत् १७४६-१७९६

कृष्ण-काव्य रचयिताओंमें घनानन्द का अपना ही स्थान है। रससिक्त ब्रजभाषा का आनन्द घनानन्द की रचनाओं में

मिलता है। ये दिल्लीपति मुहम्मदशाहके यहाँ मीरमुंशी थे, बाद में विरक्त होकर वृन्दावन चले गये और निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गए। वृन्दावन एवं कृष्ण के प्रति प्रेम, इनकी कविताओं से झलकता है। सम्वत् १७४६ की नादिरशाही कोप के भाजन हुए और उसीमें इनकी मृत्यु हुई। इनकी अनेकों रचनाओं की सूचना मिलती है। सैकड़ों कवित्त इन्होंने रचे हैं। कृष्ण भक्ति सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ छत्रपुर के राजपुस्तकालय में है। व्रजभाषामें फ़ारसी के छन्दों पर इन्होंने कुछ रचना की हैं। इनके काव्य में विप्रलंभ श्रृंगार की प्रधानता पाई जाती है। इन्होंने अधिकतर मुक्तक काव्यों की ही रचना की है। 'प्रेम की पीर' इनको वाणी में प्रादुर्भूत होती है। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये भगवत्प्रेम में लीन हुए। इनकी कविता भावपक्ष प्रधान है—विभावपक्षका चित्रण कम मिलता है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहनेके कारण वाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है।

वृन्द

सम्वत् १७२०-(?)

ये मेड़ता के रहने वाले थे और कृष्णगढ़ नरेश राजसिंह के गुरु थे। सम्वत् १७६१ में शायद कृष्णगढ़ नरेश के साथ औरंगज़ेबकी फौज़में ढाका तक गए थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ में वर्तमान हैं। वृन्द ने यथास्थान अलंकारों का

काव्यात्मक विधान किया है, गिरधर राय की भाँति कोरा तथ्य कथन नहीं। इनकी 'वृन्दसतसई' (१७६१) में नीति के सात सौ दोहे हैं। यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त रस सम्बन्धी दो ग्रन्थों की और सूचना मिली है। इनकी ख्याति विशेषतः सूक्तिकार के रूप में ही हैं।

गिरधर कविराय

सम्वत् १७७०—१८३०

इनके सम्बन्ध में निश्चित वृत्तान्त अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। नाम से भाट जान पड़ते हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्मतिथि संवत् १७७० माना गया है। इनकी नीतिकी कुण्डलियाँ ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ भी इनकी कुण्डलियों से परिचित हैं। इनकी सर्वप्रियता का कारण यह है कि इन्होंने सीधी-सादी भाषा में तथ्य को सबके सम्मुख उपस्थित किया है। इनमें अलङ्कारकी चमक-दमक और चमत्कार नहीं मिलती, कथन की पुष्टि के लिये अवश्य दो-चार दृष्टान्त आदि भले ही इधर उधर मिल जाएँ। अन्योक्ति का कहीं-कहीं सहारा लिया है। रामचन्द्र शुक्ल इन्हें कोरे 'पद्यकार' मानते हैं सूक्तिकार नहीं। स्पष्ट शब्दोंमें घर गृहस्थीके साधारण व्यवहार, लोक व्यवहार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दोंमें इन्होंने कथन किया है, इसीलिए ये सर्वप्रिय भी हो सके।

भारतेन्दु ने अपने १७-१८ वर्ष के साहित्यक जीवन में जो सेवायें हिन्दी की कीं हैं वे हिन्दी संसार को चिरस्मरणीय रहेंगी। ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा थी, उसका इतना सदुपयोग अन्यत्र बिरले ही देखने को मिलता है। तत्कालीन समस्याओं की बड़ा सूक्ष्म विवेचना की है। राष्ट्रीय भावना के उद्बोधन का श्रेय आप ही को प्राप्त है। भूषण ने जातीयता को धार्मिक पुट के साथ मिलाकर प्रोत्साहित किया था, किन्तु भारतेन्दु ने तो मनुष्यमात्र के जन्मसिद्ध अधिकार स्वतन्त्रता पर किये गये विदेशी आक्रमण को सब के सम्मुख रखा था। सबकी सुप्त चेतना जगाई।

उन्होंने हिन्दी के युगप्रवर्तक का काम किया। गद्य साहित्य का रूप स्थिर किया। हिन्दी नाटकोंका शास्त्रीय आधार पर एक प्रकार से जन्म ही दे डाला। विभिन्न भाषा-ओं से अनुवाद कर अनूदित साहित्य को प्रेरणा दी। समालो-चना आदि में मार्ग प्रदर्शन किया। व्रजभाषा में अत्यन्त सुमधुर कविताओं की रचना की। तात्पर्य यह कि काव्य की किसी भी शैली को न छोड़ा। सबका प्रतिपालन आपकी शरण में हुआ। यहाँ तक कि हिन्दी भाषा का रूप उर्दू फार-सीमय हो अथवा संस्कृत-मय हो इसका भी निर्णय कर डाला। अपने गुरु राजा शिव-प्रसाद 'सितारे हिन्द' से भारतेन्दुका इस सम्बन्ध में घोर विरोध हो गया था। भारतेन्दु संस्कृत पुट

सहित हिन्दी भाषा के पक्षपाती थे और 'सितारे हिन्द' थे उर्दू फारसी युक्त भाषा के।

अल्प समय के मध्य ही भारतेन्दु जी ने हिन्दी की जो सेवा की है, आधुनिक हिन्दी जगत में जो साहित्यिक जिज्ञासा और अभिरुचि उत्पन्न किया है, वैसा अन्य किसीके द्वारा अभी तक नहीं हो सका है। बार बार प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के मनमें एक करुण भावना उठा करती है कि यदि भारतेन्दु और कुछ काल तक रह पाते तो न जाने हिन्दी का स्वरूप और भी कितना निखर उठता !

नाथूराम शंकर शर्मा

सम्वत् १९१६—१९८९

शर्माजी ने अपना उपनाम 'शंकर' रखा था। ये पद्य रचनामें अत्यन्त सिद्ध हस्त थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र की मण्डलीके ये थे। शर्माजी अपने समयके बड़े जागरूक कवि माने जाते थे। ये समस्या पूर्तिमें बड़े पटु थे। अपनी सटीक और सुन्दर समस्या पूर्ति के कारण इनका चारों ओर पदक, पगड़ी, दुशाले आदि द्वारा सम्मान हुआ करता था। प्रारम्भ में इन्होंने ब्रज-भाषा में कविताओं की रचना की, किन्तु बाद में खड़ी बोली का जब प्रचार बढ़ गया तो उसमें भी बहुत अच्छी रचना करने लगे। छन्दों के सुन्दर नपे-तुले विधान के साथ इनकी उद्भावनाएँ भी बड़ी अनूठी होती थीं। शर्मा जी की कबिता में उद्दण्डता का भी पुट कहीं-कहीं मिलता है। इसका कारण

यह था कि आर्यसमाज से सम्बन्ध रहनेके कारण ये सामाजिक विचारों में रूढ़िग्रस्त न थे। अन्ध-विश्वास एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति इनकी उग्र विरोध भावना कविताओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। फबतियाँ और फटकार इनकी कविताओं की एक विशेषता थी। सौम्य वृत्तियों वाली इनकी उक्तियाँ भी बड़ी मनोहर बन पड़ी हैं।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

सम्वत् १९२३-१९८९

हिन्दी के आधुनिक काल में पुरानी परिपाटी की काव्य कला का परिचय रत्नाकर की रचनाओं से प्राप्त होता है। रीतिकालीन काव्य परम्पराकी श्रृंखलामें—आधुनिक युगमें—ये महत्वपूर्ण कड़ी के सामान है। काव्य में इन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। ब्रजभाषा के सफल कवियों में इनका स्थान है। रीतिकालीन कविवर बिहारीलाल की बिहारी सतसई का बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ इन्होंने प्रस्तुत किया। पाठ भेद एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से 'बिहारी रत्नाकर' का बड़ा महत्व है। भ्रमरगीत परम्परा में रत्नाकर का 'उद्धव शतक' भी उल्लेखनीय है। सौ कवित्त एवं सवैये में गोपिकाओं की वाक् पटुता एवं सरलता का बड़ा मनोहर रूप इन्होंने प्रस्तुत किया है। सूझ एवं कल्पना में आधुनिकता तथा काव्य परिपाटी में प्राचीनता का अवलम्वन कर इन्होंने अपना एक विशेष स्थान हिन्दी में बना लिया है।

श्रीधर पाठक

सम्वत् १९१६—१९८७

हिन्दी के आधुनिक काल में श्रीधर पाठक का नाम सर्वप्रथम उल्लेखयोग्य है। भाषा के क्षेत्र में ब्रजभाषा से खड़ी-बोली की ओर बढ़ने में तथा भाव एवं कल्पना में नवीनता लेकर चलने में श्रीधर पाठक को कभी नहीं भुलाया जा सकता है। पद्य के ढाँचे, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति निरीक्षण आदि स्वच्छन्दता के प्रथम दर्शन पाठक जी के काव्य ही में होते हैं। इनकी रचनाओं में मार्मिकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में रहता है। अंग्रेज़ी काव्य-ग्रन्थों के भी बड़े ही सुन्दर काव्यानुवाद इन्होंने किये। मौजके अनुसार ये कभी ब्रजभाषा, कभी खड़ी बोली का व्यवहार करते थे। श्रान्त पथिक (गोल्ड-स्मिथ के Traveller का अनुवाद) खड़ी बोली में रचित है जब कि 'उजड़ा ग्राम' (Deserted Village) की भाषा ब्रज है। अंग्रेज़ी और संस्कृत साहित्य का बड़ा अच्छा परिचय इन्हें था। पाठक जी की काव्य रुचि भी बड़ी परिष्कृत थी। शब्द-शोधनमें पाठक जी अद्वितीय थे। इनकी प्रतिभा सदा रचनाके नए-नए मार्ग भी निकाला करती थी। छन्द, पद विन्यास, वाक्य विन्यास आदि की सदैव नवीन परिकल्पना किया करते थे। ये बड़े प्रतिभाशाली, भावुक एवं सुरुचि सम्पन्न कवि थे।

अयोध्या सिंह उपाध्याय, 'हरिऔध'

सम्वत् १९२२

भारतेन्दुके परवर्ती काल एवं आधुनिक काल की कड़ीमें लब्ध प्रतिष्ठ कवि हरिऔध का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उपाध्याय

जी ने बोली के क्षेत्र में जितने प्रयोग किये हैं वे अतुलनीय हैं। ठेठ हिन्दी, हिन्दी-उर्दू मिश्रित, हिन्दी संस्कृत मिश्रित, ब्रज, खड़ी-बोली आदि हिन्दी के जितने भी सम्भाव्य रूप हो सकते हैं, सबमें काव्य रचना की है, और सफलता के साथ। छन्द वर्ण वृत्त आदि की विविध (उर्दू एवं संस्कृतनिष्ठ) सफल योजना कर अनेकों प्रयोग किये हैं। उपाध्याय जी के काव्य में लोकसंग्रह का भाव पाया जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचनाओंमें 'प्रियप्रवास' उल्लेखनीय है। हरिऔध जी का कृतित्व हिन्दी में इसलिये भी स्मरणीय रहेगा कि इन्होंने हिन्दी जगत के सम्मुख, छन्द एवं भाषा की एक बड़ी अच्छी प्रयोगशाला प्रस्तुत कर दी है।

मैथिलीशरण गुप्त

सम्वत् १९४३

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की प्रेरणा श्री गुप्त जी को काव्यक्षेत्र में अपूर्व प्रोत्साहन देती रही। आपने कविताएँ खड़ी बोली में लिखी हैं।

गुप्त जी को हम किसी 'वाद' के भीतर सीमित नहीं पाते। इनका विषय मुख्यतः राष्ट्रीय रहा। पौराणिक आख्यानों को आधुनिक ढंग से ग्रहण किया। भारतीय आदर्श और मर्यादा को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा। सब प्रकारकी उच्चता से आपका हृदय प्रभावित होता है। प्राचीनता के प्रति श्रद्धा-सम्मान और नवीन के प्रति उत्साह आपकी कविताओं में मिलता है।

ठाकुर गोपाल शरण सिंह

सम्वत् १९४८

द्विवेदी कालीन हिन्दी काव्य धारा में ठाकुर गोपालशरण सिंह का नाम उल्लेखयोग्य है। खड़ी बोली को परिमार्जित कर काव्योपयोगी विशेषतासे संयुत करने का बहुत कुछ श्रेय ठाकुर साहब को है। इन्होंने अपने काव्य के लिये अनेकों मर्मस्पर्शी विषयोंका चयन कर, खड़ी बोली को माँजा है। प्रारम्भिक रचनाएं यद्यपि साधारण हैं पर आगे चलकर इनके काव्य में मार्मिक उद्भावना तथा अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इनकी लघु रचनाओं में गीतात्मकता के सहित जीवन की विविध दशाओं की झलक मिलती है। कुछ रचनाओं में छाया-वाद का भी प्रतिविम्ब मिलता है, किन्तु उनमें वे रहस्यदर्शी न होकर सरल हृदयवाले भावुक भक्त के रूप में उपस्थित होते से प्रतीत होते हैं। छन्द, कल्पना या अभिव्यंजना में व्यर्थ की जटिलता इनके काव्य में नहीं है।

ठाकुर गुरुभक्त सिंह, 'भक्त'

सम्वत् १९५०

हिन्दी काव्य के वर्तमान युग में आचार्य शुक्ल जी द्वारा वर्गीकृत तृतीय उत्थान में भक्त जी का महत्वपूर्ण स्थान है। छोटे-छोटे प्रेम गीत एवं रूढ़िग्रस्त बंधी लीक की धारा से भिन्न इनकी कविता ने स्वच्छन्द मार्ग निकाला। प्रकृति-प्राङ्गण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता व्यंजक दृष्टिपात, सुख दुःख में साहचर्य की भावना, आदि इनके काव्य की विशेषता रही है।

नवीनता के लिए पुरातन का तिरस्कार अथवा नवीनता में बँधकर ही चलना, आदि इन के काव्य में नहीं मिलता। ये प्रसङ्ग के अनुकूल छन्दों का विधान करते हैं। आवश्यकतानुसार व्यंजक चित्र-विन्यास, लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता सरस पदावली इनके काव्य में उपलब्ध होती है किन्तु ठाकुर साहब इन बातों को महत्व नहीं देते। मार्मिकता और भावुकता इनकी कविता की विशेषता है। इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'नूरजहाँ' (एक प्रबन्ध काव्य) है।

जगन्नाथ प्रसाद, 'मिलिन्द' सम्वत् १९६४

'मिलिन्द' द्विवेदी युग के परवर्ती कालीन काव्यकारों में से हैं। ये काव्य के संस्कारों से समन्वित हैं। रूढ़ि वा परिभाषा के बन्धन में अपनी कविता को बाँधना इन्हें स्वीकार नहीं है। इनकी रचनाओंमें प्रकृति प्रेम, सरसता एवं कल्पना की प्रचुरता है। प्रारम्भिक रचनाओं में कल्पनाकी प्रधानता है एवं अनुभूति की मात्रा कम पाई जाती है। क्रमशः जैसे जैसे जीवन पक्ष प्रबल हो उठा है, इनकी रचनाओं में सामयिकता का प्रभाव परिलक्षित होने लगा है। मिलिन्द जी की रचनाओं में एक ओर सन्देश प्राप्त होता है दूसरी ओर काव्यकार अपने विकास क्रममें अधिक संवेदनशील हो उठता है। भावनाओं की सरस और वेदनापूर्ण अभिव्यक्ति से उनकी

रचनाएँ पूर्ण होने लगी है। छायावाद एवं प्रगतिवाद का भी पुट इनकी कविताओं में पाया जाता है। कवि अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति जागरूक एवं चैतन्य है।

गया प्रसाद शुक्ल, 'सनेही'

सम्वत् १९४०

'सनेही' जी ने अपना एक और उपनाम 'त्रिशूल' भी रक्खा है। इसका एक मनोरंजक उद्देश्य है कि काव्य के विषयवस्तु के अनुसार उपनाम का उपयोग किया जाता है। यदि काव्य में उग्रता नहीं है तो 'सनेही', अन्यथा 'त्रिशूल'। इन्होंने ब्रजभाषा खड़ी बोली एवं उर्दू में बड़ी सरस एवं सफल रचनाएँ की हैं। भाषा में पर्याप्त मात्रा में वेग परिलक्षित होता है। प्राचीन परम्परा एवं आधुनिक परिपाटी दोनों में ही इन्होंने काव्य रचना सफलतापूर्वक की है।

रामनरेश त्रिपाठी

सम्वत् १९४६

त्रिपाठी जी द्विवेदी काल के विशिष्ट कवि हैं। भाषा की सफ़ाई और कविताके प्रसाद गुण पर इनका बहुत ज़ोर रहता है। कविने अपनी रचनाके निमित्त प्रचलित पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त नूतन कथाओंकी उद्भावना की है। स्वदेश भक्तिकी कल्पना द्वारा कविता को रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठी जी ने प्रदान किया है। भ्रमरणशील होनेके कारण इनकी कविताओं

में प्रकृति वर्णन में स्थानगत विशेषताएं आ गई हैं। अपनी रचनाओं में एक ओर जहाँ प्रकृति के सुरम्य मनोमुग्धकारी जगत में विचरण करते हैं, दूसरी ओर समाज के कष्ट क्रन्दन के प्रति संवेदना भी है। त्रिपाठी जी की कल्पना मानव हृदय के सामान्य मर्मपथ पर चलनेवाली है। इन्होंने हिन्दी में ग्राम गीतों का संग्रह कर साहित्य के एक उपेक्षित अंग की पूर्त्ति की है।

———

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' सम्वत् १९४५

चतुर्वेदीजी हिन्दी के एक सम्मानित राष्ट्रीय कवि हैं। प्रकृति के चित्रण में भी उनकी राष्ट्रीय भावना में चेतनता रहती है। आप द्विवेदी काल के कवि हैं। इसलिए उस काल की कुछ विशेषताएँ आपकी रचनाओं में परिलक्षित होती हैं। सहज भाषा न होने के कारण कहीं-कहीं आपकी कविता का आशय स्पष्ट नहीं समझ में आता है।

—

जयशंकर प्रसाद सम्वत् १९४६-१९९४

भारतीय काव्य, दर्शन और संस्कृति के प्रति आपका विशेष अनुराग था। बौद्ध धर्म और शास्त्र के प्रति आपका अधिक झुकाव था। विशाल तथा गहन अध्ययन के फलस्वरूप

आपके निष्कर्ष भी बड़े गूढ़ और विचारणीय होते थे। दुर्भाग्य से हिन्दी का ऐसा अमूल्य रत्न अकाल ही में संवत् १६६४ में खो गया।

प्रसादजी की ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा ने मानो हिन्दी की सेवा बहुमुखी होकर की। ऐसा कोई भी काव्यांग न रहा जो आपके द्वारा सिंचित न हुआ हो। आप खड़ी बोली की नवीन धारा के अग्रदूत थे। नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, समीक्षा आदि सभी पर लिखा और सफलता के साथ लिखा।

प्रसाद जी की कविता ने हिन्दी में काव्य क्षेत्र को विस्तृत किया। यद्यपि हिन्दी के सब अंगोंपर प्रसाद जी की लेखनी चली, किन्तु सर्वाधिक वे सफल हुए कविता के क्षेत्र में। जान पड़ता है वे पहले कवि हैं, बाद में नाटककार या उपन्यासकार। आप रहस्यवादी कवियों में माने जाते हैं। अभिव्यक्ति मधुर है, गहन गम्भीर भावनाएँ आपकी रचनाओं की विशेषता है।

प्रसाद जी की भाषा के लिए साधारणतः क्लिष्टता का दोषारोपण किया जाता है। वह संस्कृत बहुल अवश्य है। जब गंभीर भावों की अभिव्यक्ति होती है तो भाषा भी उसके अनुरूप हो उठती है। इतना अवश्य है कि उनकी भाषा चलती भाषा नहीं है, इसलिये कुछ स्थल निःसन्देह ऐसे हैं जो बोझिल हो उठते हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला' सम्वत् १९५५

आपकी कविताओं में बंगला अतुकान्त पद्धति का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। मनोवृत्ति का झुकाव दर्शन की ओर रहा, इसलिये आपकी कविताएं भी उससे प्रतिबिम्बित हैं। आप भी छायावादी कवियों में गिने जाते हैं। दार्शनिकता का पुट रहने के कारण आप के लिए कहा जाता है कि आपकी कविताओं में रहस्यवाद की झाँकी मिलती है।

आपकी अतुकान्त पद्धति अर्थात कविता के छन्दों में मुक्त वृत्ति हिन्दी में बहुत से समालोचकों को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। शारीरिक अस्वस्थता के कारण हिन्दी साहित्य को आपकी रचनाओं से कुछ काल तक वंचित रहना पड़ा। आप का हिन्दी अनुराग इतना तीव्र है कि थोड़ी सी भी स्वस्थता लाभ करते ही कुछ न कुछ अपनी रचनाओं की भेंट चढ़ा देते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त सम्वत् १९५६

आपकी रचनाएं कल्पना से परिपूरित सुकुमार भावना प्रधान होती हैं।

प्रकृति के सहित आपकी विलक्षण अनुभूति है। उसकी मधुर कोमल अभिव्यक्ति आपकी विशेषता है। उपमा, रूपक आदि का उत्कृष्ट समावेश पाया जाता है, शब्द योजना अपूर्व है। संस्कृत बहुल कोमल शब्दों का प्रयोग किया है। भाषा

कोमल, सुललित और संगीतपूर्ण है। सुकुमार कल्पनाओं का बड़ा सजीव वर्णन इनकी कविताओं में है।

पन्त जी प्रारम्भमें जिस ओर अग्रसर हुए थे, यदि उसी पथ पर चलते रहते तो हिन्दी कविता के सौभाग्यकी वृद्धि होती किन्तु, हठात् प्रगतिशीलता के आवर्त में पड़कर प्रवाह दूसरी ओर मुड़ गया। इधर की उत्तरकालीन कविताओं में कलाकार का रूप लुप्त हो गया। आप छायावादी एवं नवीनधारा के प्रमुख कवियों में विशेष स्थान के अधिकारी हैं।

महादेवी वर्मा सम्वत् १९६४

मधुरता, कोमलता, वेदना, प्रेमव्यथा आदि आपकी अभिव्यक्ति की वस्तु हैं। कभी-कभी आपकी तुलना मीरा के साथ भी की जाती है। दार्शनिक पुट रहने के कारण आपकी कविताओं को रहस्यवाद के क्षेत्र में भी मान लिया जाता है। प्रमुख छायावादी कविओं में आपका स्थान है। आपकी कल्पना और अनुभूति हृदय को स्पर्श करने वाली होती है।

आपकी कविता में करुणा की प्रेरणा अत्यधिक है। इसी कारण अधिकतर आपका भावना-जगत निराशा से आक्रान्त सा प्रतीत होता है। अनुभूति में एक टीस-सी रहती है जो हृदय को करुणा से आप्लावित कर देती है। अभिव्यञ्जना में जितनी कुशलता आपको प्राप्त हुई है उतनी सम्भवतः अन्य किसी कवि को नहीं हुई है।

रामकुमार वर्मा

आपका हृदय भावुक है। आप कवि के अतिरिक्त एकांकी नाटककार एवं कुशल समालोचक भी हैं।

आपकी कविता में प्रकृति का नैसर्गिक चित्रण पाया जाता है। कुछ साहित्यिकों का मत है कि आप रहस्यवाद के सफल कवि हैं। कल्पना और अनुभूति का बड़ा स्वाभाविक सामंजस्य आपकी कविताओं में पाया जाता है।

भगवती चरण वर्मा

सम्वत् १९६०

आप की कविता में जीवन में कर्म करते रहने का सन्देश मिलता है। छायावाद के स्पष्ट कवि हैं। जीवन के रहस्य बहुत व्यापकताके साथ व्यक्त हुए हैं। जीवन का उन्मेष, वेग, रौद्ररूप, आदि की सजीव अभिव्यक्ति आपकी कविताओं में है। क्रान्ति, एवं परिवर्तनकारी प्रवृत्ति की झलक देख पड़ती है। अभिव्यञ्जन बड़े हृदयग्राही ढंगका है। दार्शनिकता का पुट अत्यल्प है।

सुभद्रा कुमारी चौहान

सम्वत् १९६१-२००४

आपने खड़ी बोली में ही कविताओं की रचना की थी। हिन्दी की नवीन धारा में आप का उल्लेखनीय स्थान है।

आप के काव्य में मातृत्व, ममता, आशा, उत्साह एवं प्रफुल्लता की जितनी सजीव और नैसर्गिक अभिव्यक्ति मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं मिलती। अभिव्यंजना अत्यन्त सरल और

स्वाभाविक है। आपकी कविताओं के द्वारा शिथिल प्राणों में उत्साह और उमंग की प्रेरणा का संचार होता है। सीधी सादी आडम्बरशून्य भाषा में हृदय पर असर करनेवाली भावनाओं का प्रभाव पूर्ण अंकन करने में आप को अपूर्व सफलता मिली है। 'झाँसी की रानी' आपकी सर्वाधिक लोकप्रिय कविता है।

सियारामशरण गुप्त

सम्वत् १९५२

गुप्त जी की कविताओं में भावुकता के साथ दार्शनिक गम्भीर विचारों का अनोखा सम्मिश्रण निलता है। इनकी भाषा स्पष्ट सरल एवं शुद्ध है। आपने नये नये छन्दों में कविताएँ लिखी हैं जिनमें प्रवाह है और माधुर्य है।

बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'

सम्वत् १९५४

आप का स्थान राष्ट्रीय कवियों में है। कविताओं में सौन्दर्य का अन्वेषण पाया जाता है। यद्यपि 'नवीन' जी ने कोई दार्शनिकता नहीं प्रदर्शित की है, फिर भी उनकी कविताओं में मानव जीवन का इतिहास बड़े ही शक्तिशाली रूप में लक्षित होता है। एक विशेषता भी है कि आप जहाँ क्रान्तिके गायक हैं और राष्ट्रीय जीवनके संघर्षके प्रतिक्रिया स्वरूप भैरव हुंकार भरते हैं, वहाँ कोमल मधुर सौन्दर्य से अभिभूत भी हो जाते हैं। देश प्रेम के साथ सौन्दर्य प्रेम का सुन्दर समन्वय है।

द्वारिका प्रसाद मिश्र

सम्वत् १९६२

मिश्रजी का 'कृष्णायण' अवधी बोली का एक महाकाव्य है। इसमें मिश्र जी ने श्रीकृष्ण के जीवन की सम्पूर्ण कथा को एक संम्पुट में रखा है। इसके पूर्व हमारे पूर्णावतार की पूर्ण कथा कहीं भी नहीं मिलती। यह एक कमी थी, मिश्र जी ने उसे दूर किया। इसमें चौपाई, दोहा, और सोरठा छन्द केवल प्रयुक्त हुए हैं।

प्रबन्ध काव्य के लिए अवधी का प्रयोग बड़ा उपयुक्त होता है, संभवतः इसीलिये कृष्णायण की भी रचना अवधी में की गई। वास्तव में, खड़ी बोली के वेगपूर्ण युग में इस प्रकार की धारा इतनी सफलता के साथ प्रवाहित करना भी एक चमत्कार है। युग के प्रभाव से काव्यकार नहीं बच सकता, इसकी पुष्टि आपकी कृति में अनेक स्थलों पर होती है।

रामधारी सिंह, 'दिनकर'

सम्वत् १९६५

राष्ट्र के अतीत के साथ अन्तर की पीड़ा का संयोग स्थापित करके आप कविता में एक अपूर्व ओज तथा करुणा का संचार करने में बड़े कुशल हैं। देश के विगत वैभव का गान आपकी कविताओं में बड़े सजीव और आकर्षक ढंग से पाया जाता है।

हरिवंश राय, 'बच्चन'

१९०७

हिन्दी कविता में एक नया स्वर लेकर 'बच्चन' का आगमन हुआ यद्यपि यह स्वर मूलतः फ़ारस का है, किन्तु हिन्दी

में इसने अपना स्थान बना ही लिया और कुछ समय तक हिन्दी जगत का युवक समुदाय तो इस पर झूम उठा। उमर खय्याम की रुबाइयों के अनुवाद के साथ 'हालावाद' का स्वर बहुत समय तक लोकप्रिय बन गया। इनकी कवितामें गीतात्मकता का प्राधान्य है। इनकी कविता सौन्दर्य, प्रेम एवं यौवन के प्रति दृढ़ विश्वास प्रगट करती है।

रामेश्वरी देवी, 'चकोरी'

'चकोरी' का लघु जीवन किसी प्रकार भी काव्य जगत में उनके स्थान को लघु नहीं कर सका। अति अल्पायु में ही महाकाल के क्रोड़ में समा जाने पर भी उनकी कविताकी स्वर लहरी आज भी तरंगित हो, सरस हृदय को आलोड़ित कर जाती है। इनके काव्य में निराशा, व्यथा एवं पीड़ा के भाव अवश्य भरे हैं किन्तु रससिक्त होने के कारण रसिक समाज उसे अपने हृदय नीड़में स्थान देता है। यही तो 'चकोरी' की विशेषता है।

श्री रामेश्वर प्रसाद शुक्ल, 'अंचल' सन् १९१५

वर्तमान हिन्दी कविता में 'अंचल' का प्रतिनिधित्व मानने योग्य है। कल्पना के अदृश्य पंखों पर बैठकर कवि केवल नभचारी ही नहीं है वरन् वहाँ से वह पृथ्वी का विहंगावलोकन भी करता है। उसकी तीव्र दृष्टि धरती पर खींच लाती हैं उसे।

रस और कसक लेकर—वह ज़मीनके गीत गाकर—पृथ्वीके जन समाज को स्पन्दित करने की शक्ति रखता है। कोमलता और मृदुता के भी दर्शन 'अंचल' के काव्य में होते हैं। भाषा के सम्बन्ध में यथेष्ट व्यापक विचार हैं—शब्द चयन में कवि उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करता।

शिवमंगल सिंह, 'सुमन' सन् १९१६

सुमन ने आधुनिक हिन्दी कवि समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इनके काव्य में आशा का स्वर झंकृत होता है। कवि में आत्मविश्वास की मात्रा पर्याप्त है। रूढ़ि के बन्धन को तोड़कर क्रान्ति कर नई सर्जना के लिए कवि सदैव उत्सुक है। सुमन की रचनाओं का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक स्तर में उसने संसार को देखा, समझा और बूझा है। फिर समाज एवं देश की ओर वह मुड़ता है। आगे चलकर वह नया संसार बनाने का उपक्रम करता है। रचनाओं में कवि की मनोदशा एवं विचार निश्चित से जान पड़ते हैं। कल्पना स्पष्ट और व्यापक है। भाषा स्वाभाविक और प्रौढ़ है, छन्दों पर अच्छा अधिकार है। हिन्दी में इस समय अग्रगण्य नवीन कवियों में इनका स्थान माना जाता है।

आरसी प्रसाद सिंह

आरसी प्रसाद सिंह द्विवेदी कालीन कवियों के परवर्ती युग के तथा वर्तमान प्रगतिवादी कवियों के बीच की श्रृंखला की एक कड़ी हैं। कल्पना में माधुर्य है। विषयानुसार भावों में कोमलता एवं ओजस्विता, इनकी कविता का विशिष्ट गुण है।

डा० सुधीन्द्र

१९१७

सुधीन्द्र की रचनाओं में जहाँ एक ओर राष्ट्रीय भावनाएँ भरपूर हैं दूसरी ओर रहस्यवाद के भाव भी कम नहीं हैं। गांधीवाद एवं प्रगतिवाद का भी इनपर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार वर्तमान काव्य-साहित्य में प्रचलित वादों से प्रभावित होकर भी इन्होंने अपना स्वतन्त्र स्थान बना रक्खा है।

सोहन लाल द्विवेदी

वर्तमान हिन्दी साहित्य में द्विवेदी कालीन कवियों में सोहन लाल द्विवेदी का नाम उल्लेखयोग्य है। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत रचनाओं के कारण राष्ट्रीय कवियों में इनका नाम प्रसिद्ध है। प्राचीन भारतीय गौरवमय संस्कृति को जगाने का यत्न इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा किया है। इनकी भावुकता का भी परिचय इनकी रचनाओं से प्राप्त होता है। जीवन की आशा, निराशा, सुख दुःख, प्रेम और यौवन की सजीव अनुभूति से पूर्ण इनकी कविताएँ हैं। श्री सोहन लाल द्विवेदी युग के कवि हैं।